मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

Library IIAS, Shimla
H 811.31 B 489 S
00097858

बिहारी-वैभव

डॉ० विजयपाल सिंह

H
811.31
B 489 S

शक १९१९ : सन् १९९७

H
811.31
B 489 S

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

बिहारी-वैभव

बिहारी-वैभव

•

सम्पादक

डॉ० विजयपाल सिंह

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय

शक १९१९ : सन् १९९७

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक

डॉ० प्रभात शास्त्री

प्रधानमन्त्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

Library IIAS, Shimla

H 811.31 B 489 S

00097858

तृतीय संस्करण : शकाब्द १९१९

मूल्य : पन्द्रह रुपये

प्रतियाँ : २१००

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY

Acc. No. 97858

Date 13/7/2001

SIMLA

H
811.31
B 489 S

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय,

प्रयाग

प्रकाशकीय

•

महाकवि विहारी रचित सात सौ दोहों में से दो सौ दोहे चुनकर 'बिहारी-वैभव' नाम का यह काव्य-संग्रह स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए मनीषी प्राध्यापक डॉ० विजयपाल सिंह जी ने सम्पादित किया था। विहारी सतसई के दोहे अभिव्यंजना, भावाभिव्यक्ति और सौन्दर्यबोध के अगणित रहस्य छिपाये जन-समाज एवं साहित्य में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस की भाँति विहारी सतसई की अनेकानेक टीकाएँ विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध हैं और सतसई के दोहों पर अनेक आलोचनात्मक, गवेषणात्मक और तुलनात्मक शास्त्रीय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। केशव-काव्य के मर्मज्ञ डॉ० विजयपाल सिंह जी ने अपने अध्यापन-अनुभव का भरपूर उपयोग इस बिहारी-वैभव के संकलन और सम्पादन में किया है। प्रारम्भ में भूमिका के रूप में विहारी के दोहों के सन्दर्भ में विद्वान् सम्पादक ने रीतिकालीन काव्य का प्रवृत्तिगत विश्लेषण करते हुए बिहारी के व्यक्तित्व और कृतित्व का शोधपूर्ण विवेचन किया है और बिहारी के दोहों की काव्यगत विशेषताओं, उनके सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों की गम्भीर व्याख्या की है।

बिहारी के काव्य का यह संकलन थोड़े ही समय में लोकप्रिय हुआ; फलतः इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित करते हुए सम्मेलन गौरव का अनुभव करता है।

८ अप्रैल, १९९७

डॉ० प्रभात शास्त्री
प्रधानमन्त्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

विषय-सूची

भूमिका १-४५

रीतिकाल : एक प्रवृत्तिगत विश्लेषण १

(१) रीतिबद्ध कवि ५

(२) रीतिसिद्ध काव्यधारा ५

(३) रीतिमुक्त काव्यधारा ६

महाकवि बिहारी और उनका काव्य ८

(१) बिहारी की प्रेम-भावना २३

(२) बिहारी सतसई में भक्ति-भावना, प्रकृति-चित्रण तथा हास्य-व्यंग्य के अन्य चित्र ३१

बिहारी सतसई का विषय-विन्यास ३६

मूलपाठ ४६

परिशिष्ट (शब्दार्थ) ६३

भूमिका

रीतिकाल : एक प्रवृत्तिगत विश्लेषण

हिन्दी साहित्य में 'रीतिकाल' के वैशिष्ट्य का अध्ययन यदि एक ओर भारतीय इतिहास की मध्यकालीन जीवन-दृष्टि की विविध भावभूमियों की व्याख्या से सम्बद्ध है तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास में कलात्मक प्रौढ़ता की अनेकानेक भंगिमाओं को भी प्रकाश में लाने का प्रयास है। आज इस सन्दर्भ में किसी प्रकार के संशय की गुंजाइश नहीं कि रीतिकाल संवत् १७०० से लेकर संवत् १६०० तक की दो शताब्दियों को अपनी परिधि में घेरे हुए है। भारत के राजनीतिक इतिहास में साहित्य का यह युग मुगल साम्राज्य के पूर्ण उत्कर्ष तथा विनाश का काल है। विप्लवों से आक्रांत, युद्ध से जर्जरित मुगल साम्राज्य एवं साम्राज्य को संचालित करने वाले शासकों की आत्महीनता एवं अधोमुखी जीवन-दर्शन के साथ-साथ महत्त्वहीन शासन स्थापित करने वाले एवं मुगल सम्राट की विराट गरिमा को मिटा देने में सहायक मुगल उत्तराधिकारियों की व्यक्तित्त्व-हीनता भी रीतिकालीन साहित्य की वस्तुपरक चेतना से संबंधित रही है। रीतिकाल वह युग था जिसमें श्रृङ्गार की अतिशयता थी। मुसलमानों की ऐहिकतापरक जीवन-दृष्टि एवं हिन्दुओं के पराभव की विभिन्न स्थितियों को बड़ी गहनता के साथ इस काल के साहित्य में अभिव्यक्ति मिली। सूर, तुलसी की आध्यात्मिक आस्था इस युग में पंगु हो गयी थी। जीवन में स्वस्थ संघर्ष का अभाव था। धार्मिक जड़ताओं एवं सामाजिक कुरीतियों में मध्यकालीन जीवन पूरी तरह बँधा हुआ था। धर्म, धर्माभास मात्र रह गया था। जीवन में कृत्रिमता एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों की आराधना हो रही थी। नैतिकता मर्यादा एवं संयम के अभाव से ग्रस्त इस युग में नारी

का दैहिक सौन्दर्य एवं उसकी विविध मुद्राओं पर ही सामन्ती दृष्टि टिकी हुई थी। उत्तराधिकार में प्राप्त संस्कृत और प्राकृत की शृङ्गारिक परम्परा एवं कृष्णकाव्य परम्परा की आध्यात्मिक चेतना की विस्मृति के सहयोग से साहित्यिक आदर्श भी रीतिकालीन काव्य-चेतना को शृङ्गारिक बनाने में सहयोग दे रहे थे। कृष्ण काव्यधारा के राधाकृष्ण अपनी अलौकिक भूमिका छोड़कर साधारण नायक-नायिका का रूप लेने के लिए बाध्य हो चले थे। रीतिकालीन साहित्य की शृङ्गारिकता में प्रेम की आंतरिकता, संवेदना की गहराई एवं आत्मिक सौन्दर्यानुभूति का अभाव है तथा स्थूलता एवं उत्तेजक दैहिक क्रिया-कलापों की अधिकता इस बात का प्रमाण है कि रीतिकालीन कवियों में अधिकांश का दृष्टिकोण नारी सौन्दर्य के प्रति वस्तुपरक एवं उनका कविकर्म परम्परा से निर्देशित रहा है। डॉ० नगेन्द्र के इस महत्त्वपूर्ण कथन की सार्थकता को नकारा नहीं जा सकता कि रीतिकाल की शृङ्गारिकता में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्रायः मिलती है और उसमें भी सूक्ष्म आंतरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम भावना प्रधान एवं एकोन्मुखी होती है, विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एवं अनेकोन्मुखी होती है। तभी तो प्रेम में तीव्रता होती है, रसिकता में केवल तरलता। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम पद्माकर रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी रसिकता या सौन्दर्य-भावना भी बहिरंग ही थी, अन्तरंग नहीं।' इस प्रकार इस तथ्य को कभी भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि देह-सौन्दर्य की तृषा इन कवियों में अत्यन्त उद्दाम थी तथा देह-सौन्दर्य के अत्यन्त सूक्ष्म स्तरों एवं छवियों को पकड़ने में ये कवि सिद्धहस्त थे। नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामन्ती थी। नारी के उपभोग प्रधान रूप से मुक्त हो करके चैतन्य-शिखा के रूप में ये कवि उसे स्वीकृति न दे सके। नारी-शरीर की बाहरी यात्रा से ही ये थक चुके थे, प्राणों के सौन्दर्य को उरेहने में, नारी-मानस की विविध भावविह्वल अनुभूतियों एवं अन्तर्द्वन्द्वों को रेखांकित करने में ये अक्षम थे। नारी-सौन्दर्य की विभिन्न भंगिमाएँ हों अथवा उससे

सम्बद्ध हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग की दशाओं का उत्तेजक निरूपण हो सबके मूल में नारी देह को अधिक मांसल एवं उपभोग प्रधान बनाने की प्रक्रिया ही रही है। यदि भक्तिकालीन कवियों के लिए उनकी मुक्ति-साधना में नारी बाधा होने के कारण भुजंगिनी और माया बनी हुई थी तो रीतियुग भी नारी को व्यक्ति के रूप में समुचित आदर न दे सका। इसी के साथ नारी रूप की अन्य उदात्त भूमिकाओं अर्थात् माँ, बेटी, बहिन आदि रूपों के चित्र से भी रीतिकालीन कवि आँखें फेरे रहे। तथ्य तो यह है कि शृङ्गार से श्रांत रीतिकालीन पथिक जब मोक्ष की यात्रा में निकलते थे तो भक्तिकालीन साधकों की भाँति समूचे तारुण्य से सँवरी हुई नारी उन्हें विवेकहारिणी के रूप में ही दिखायी पड़ती थी।

हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल के नामकरण के सन्दर्भ में पर्याप्त विवाद रहा है। इसे रीतिकाल, शृङ्गारकाल, अलंकृतकाल और कला-काल आदि विभिन्न नामों से पुकारने का प्रयास हुआ है। यह दो टूक सत्य है कि उत्तरमध्यकालीन साहित्य की मूल चेतना शृङ्गारिकता है। पर 'रीतिकाल' में 'रीति' शब्द पर्याप्त व्यापक एवं अर्थबहुल है; इसीलिए आचार्य शुक्ल के इस नामकरण से बाबू श्यामसुन्दरदास के साथ ही पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र आदि सहमत हैं। अलंकार वर्णन, नायक-नायिका भेद प्रकरण, रस-विवेचन आदि के प्रसंग इस काल के साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, लेकिन उनमें सुव्यवस्था का अभाव है। आचार्य केशवदास की प्रेरणा से संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को रीतिकालीन कवियों ने अपना आधार ग्रंथ तो अवश्य बनाया लेकिन एक निश्चित परिपाटी का अनुसरण नहीं किया। किसी ने केवल लक्षण ग्रंथों की रचना की तो किसी ने उदाहरण ही प्रस्तुत किए। कुछ ऐसे भी कवि थे जिन्होंने न तो सुसम्बद्ध ढंग से लक्षण ग्रंथ ही लिखे और न उदाहरण ही प्रस्तुत किए। बिहारी जैसे कवि इसी खेमे के हैं जिनकी रचनाओं को लक्षण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार रीति-बद्धता और शृंगारिकता को ध्यान में रखते हुए इस काल की रचनाओं को

रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

'रीति' एक व्यापक अर्थवत्ता से युक्त शब्द है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण ग्रंथों के लिए होता है। जिन ग्रंथों में काव्य के विविध अंगों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचित होता है उन्हें रीतिग्रंथ कहते हैं और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीतिशास्त्र कहते हैं। संस्कृत में उसका एक विशेष अर्थ है और उसे एक व्यापक सम्प्रदाय के लिए प्रस्तुत किया जाता है। रीति का अर्थ वहाँ है विशिष्ट पद रचना···। रीति सम्प्रदाय रचना अथवा बाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मानकर चला है। संभव है आरम्भ में हिन्दी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति सम्प्रदाय से लिया गया हो परन्तु वास्तव में यहाँ इसका व्यापक प्रयोग सर्वसामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है।"[१] रीतिकाल में श्रृंगार के अतिरिक्त वीरकाव्य, नीतिकाव्य, सूफीकाव्य, रामकाव्य और कृष्णकाव्य परम्पराएँ भी अनवरत रूप से चलती रही हैं। पर हमारा मूल प्रतिपाद्य श्रृंगार से संबंधित रीतिकाव्य ही है और इसकी विविध काव्य-धाराओं के काव्यगत वैशिष्ट्य का विवेचन ही हमारा साध्य है।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि श्रृंगार से सम्बद्ध काव्यवृत्ति और रचना-पद्धति के आधार पर रीतिकालीन कवियों को तीन वर्गों में इस प्रकार हम बाँट सकते हैं—(१) रीतिबद्ध कवि : जो लक्षण निर्धारित करते हुए श्रृंगार रस की रचना करते थे। (२) रीतिसिद्ध कवि : जो रीति ग्रंथ तो नहीं लिखे थे किन्तु जिनकी रचनाएँ रीति से पूर्णतः प्रभावित थीं। रीति-शास्त्र के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान से परिचित होते हुए भी ये रीतिग्रंथ के रचयिता न थे। (३) रीतिमुक्त कवि : जो प्रेम के स्वानुभूत सत्य को स्वच्छन्द ढंग से अभिव्यक्ति देने में सक्षम थे।

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, पृ० १३७।

(१) **रीतिबद्ध कवि**—रीतिबद्ध काव्यधारा के प्रमुख कवियों में केशव, चिंतामणि, भूषण, मतिराम, देव, श्रीपति, कुलपति, भिखारीदास, जसवन्तसिंह, पद्माकर, दूलह, प्रतापसाहि आदि प्रमुख हैं। राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य, आंगिक चेष्टाओं आदि के चित्रण के माध्यम से षड्ऋतु वर्णन, 'बारहमासा, नख-शिख वर्णन तथा संयोग-शृंगार की विभिन्न दशाओं को इन्होंने 'अलंकार शास्त्र' के परिदृश्य में विवेचित किया है। इन कवियों में आचार्य बनने का लोभ था जिसके परिणामस्वरूप इनके कवि हृदय की उन्मुक्तता बाधित हुई। फिर भी लक्षण-निरूपण की तुलना में उनके उदाहरण अधिक सशक्त एवं आकर्षक बन पड़े हैं।

शृंगार के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्तरों पर इन्होंने रचनाएँ कीं। शृंगार के प्रति अतिशय अनुराग का ही परिणाम था कि इन्होंने वीर और रौद्र रस के उदाहरण भी 'रतिरण' चित्रित करके ही दिए। सामन्ती परम्परा और कृष्णकाव्य की शृंगारिक परम्परा दोनों की प्रेरणा से ऐसा करने के लिए वे प्रेरित थे।

(२) **रीतिसिद्ध काव्यधारा**—उपर्युक्त विवेचन में हम इसका संकेत कर चुके हैं कि रीतिसिद्ध कवि काव्यशास्त्र के पंडित होते हुए भी रीति ग्रंथों की रचना न करके स्वतंत्र उद्भावना करने में समर्थ थे। रसों तथा उनके अवयवों, अलंकारों एवं नायिका भेद से सम्बन्धित इनकी रचनाएँ बड़ी सुगमता से लक्षणग्रंथों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। ये रीति के गुलाम नहीं थे और रीति से प्रभावित होते हुए ये उसका बन्धन ढीला करके काव्य रचना करने में समर्थ थे। रीतिशास्त्र में निष्णात होने के कारण इन्हें रीतिसिद्ध कवि और इनके कृतित्व को रीतिसिद्ध काव्य की संज्ञा दी गई है। बिहारी, सेनापति, रसनिधि, नेवाज, पजनेस आदि प्रमुख रीतिसिद्ध कवि हैं। बिहारी सतसई, मतिराम सतसई आदि कृतियाँ रीतिसिद्ध काव्य के अन्तर्गत परिगणित होती हैं। रीतिसिद्ध कवि लक्षण ग्रंथों से बाहर जाने के लिए स्वतंत्र थे। पर इनकी स्वच्छन्दता रीतिमुक्त कवियों-सी न थी। रीति का अनुसरण करते हुए भी इनमें

रीतिग्रस्तता न थी। बिहारी ने कवित्त और सवैये जैसे छन्दों की दीवार तोड़कर और दोहों को अपनी रचना के लिए अपनाकर अपने व्यक्ति वैशिष्ट्य का ही परिचय दिया है। उनके दोहों में सूक्ष्म कलात्मकता, वर्ण एवं नाद सौन्दर्य की अद्भुत छटा, गहरी अर्थवत्ता एवं ध्वन्यात्मकता उनकी मौलिक उद्भावना की ही परिचायक है। अगर थोड़े ध्यान से देखें तो रीति-ग्रंथकारों द्वारा विरचित लक्षण से सम्बद्ध दोहों में और बिहारी के दोहों में सरस काव्यमयता और अर्थ-व्यंजना को लेकर पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है। बिहारी के दोहों की अर्थ-व्यापकता एवं व्यंजकता को रीतिबद्ध कवियों के दोहे प्राप्त नहीं कर सके हैं।

रीतिसिद्ध कवियों की शृंगारिक रचनाओं पर प्राकृत की गाथा सप्तशती, संस्कृत के अमरुक शतक, आर्या सप्तशती, भर्तृहरि के शृंगार शतक आदि का प्रचुर प्रभाव है। इसके साथ-साथ अपभ्रंश के प्राकृत व्याकरण तथा प्राकृत-पैंगलम् आदि के साथ ही संस्कृत साहित्य की शृंगारिक मुक्तक काव्य परम्परा से भी ये प्रभावित रहे हैं।

(३) रीतिमुक्त काव्यधारा—रीतिमुक्त कवियों में रसखान, आलम, घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि बहुचर्चित हैं जिन्होंने आत्मतुष्टि के लिए कवि-कर्म को स्वीकृति दी थी। रीतिशास्त्र के बन्धन से मुक्त होकर ये अपनी वेदना एवं प्रणयानुभूति को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति प्रदान करते थे। विषय-वस्तु और विषय-विन्यास सभी क्षेत्रों में इन्होंने अपनी स्वच्छन्दता का परिचय दिया तथा नायिका भेद, रस-निरूपण एवं अलंकार वर्णन से निरपेक्ष होकर अपनी आंतरिक अनुभूतियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की। काव्य-रीति के साथ ही प्रणय के क्षेत्र में इन्होंने लोकरीति से भी विद्रोह किया था। यही कारण है कि इनकी कविता में आंतरिक सौन्दर्य की व्यंजना हुई है तथा इनकी कविता का रसास्वादन करने के लिए चर्मनेत्रों की नहीं अपितु हृदय की आँखों की अपेक्षा है। इनका प्रेम काव्य-शास्त्रीय मर्यादाओं में बँधने वाला नहीं है तथा अपने प्रणय का ये स्वयं ही निवेदन करते हैं। इनके व्यक्तित्व का निर्माण प्रेम ने किया है और प्रेम-

दशाओं का अत्यन्त जीवन्त रूप इनकी रचनाओं में प्रस्फुटित हुआ है। इनकी कविताओं में निहित शैलीगत वक्रता इनकी प्रणय विषमता से सम्बद्ध है। ये रीति के सँकरे पथ के राही नहीं थे। इनकी कविता में अन्तर्व्याप्त प्रणय वेदना को समझने के लिए शास्त्रज्ञान का नहीं बल्कि आत्मसंघर्ष और आत्मबोध की आवश्यकता है। सर्जना में तल्लीनता का महत्त्व इन्हें ज्ञात था तथा रस दशा को प्राप्त इनकी काव्य भाषा सहज ढंग से भंगिमामय हो गयी थी। राजाओं का मनोविनोद करने वाले ये चाटुकार नहीं थे। परायी अनुभूतियों से इनकी रचनाएँ सम्पृक्त नहीं हैं। प्रेम की तीव्रता एवं वियोग की प्रधानता इनकी रचनाओं की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। पीड़ा से इन कवियों को स्नेह-सा रहा है। सूफ़ी शायरी और फारसी काव्य परम्परा की वेदनानुभूति का इनकी रचनाओं पर निविड़ प्रभाव है। इन्होंने प्रचलित शब्दों में नये अर्थ भरे हैं। मुहावरे एवं लोकोक्तियों के प्रयोग से इनकी काव्य-भाषा अधिक जीवन्त बन गयी है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल हिन्दी साहित्य का ऐसा काल है जिसमें तत्कालीन मध्यकालीन जीवन-दर्शन की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। सामन्ती परिवेश में पलने वाला साहित्य उस युग की मानसिकता को सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति दे सका है। साहित्य समाज की मनोभूमि से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होता है। रीतिकाल का नारी विषयक दृष्टिकोण हो अथवा धार्मिक चेतना, रस निरूपण हो अथवा अलंकार वर्णन सभी के विवेचन में उस काल की विविध सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्ताधारा के निविड़ प्रभाव को हम अस्वीकृत नहीं कर सकते। बिहारी रीतिसिद्ध काव्यधारा के अनन्यतम कवि हैं और उनके काव्य में उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक विचारधाराओं की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। बिहारी का काव्य उस युग विशेष का प्रामाणिक दस्तावेज है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन समाजशास्त्रीय विचारधारा के परिवेश

में युगीन भावभूमि एवं साहित्य की उपलब्धियों को समझने में सहायक हो सकेगा।

महाकवि बिहारी और उनका काव्य

बिहारी रीतिकाल के असाधारण कवि हैं जिन्होंने विरासत में मिली अपनी पूर्ववर्ती मुक्तक काव्य परंपरा को उत्कर्ष की भूमिका प्रदान की। अपनी उक्तियों की विदग्धता, परिमार्जन, वक्रता एवं व्यंग्यात्मकता के कारण वे सहृदय आलोचक के अवधान तथा आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। सचेत कलाकार होने के कारण शब्दों एवं अर्थों के वजन एवं उपयुक्तता से वे भिज्ञ रहे हैं और अपने दोहों में रीतिकालीन नायिकाओं के मादक सौन्दर्य को रेखांकित करने में वाह्य सौन्दर्य के साथ ही आभ्यन्तरिक दीप्ति को भी उरेह सके हैं। आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार—"शृंगार रस की अभिव्यंजना के समय ऐसे कवि रसोद्दीपक परवा चेष्टाओं की पूरी मूर्ति ध्यान में रखते हैं। वे प्रिया की शोभा, दीप्ति और कांति के साथ-साथ माधुर्य, औदार्य आदि मानस गुणों को भी जब व्यक्त करना चाहते हैं, तो उन आंगिक और वाचिक चेष्टाओं का चित्र खींचते हैं जो तत्तद मानसिक गुणों की व्यंजना करने में समर्थ होती हैं। वे अनेक प्रकार के हावों, हेलाओं, कुट्टमित-मोट्टायित-बिव्वोकों और अनुभावों की योजना का आयोजन करते हैं। बिहारी इस कला में अत्यन्त पटु हैं। रीतिकाल के कवियों में सौन्दर्य को मादक बनाकर उपभोग्य बनाने की प्रवृत्ति बलवती है। छंद, अलंकार, लय और झंकार के सहारे ये कवि सहज सौन्दर्य को भी मादक बना देते हैं। बिहारी इस दिशा में भी सबसे आगे हैं।"[१] कहना न होगा कि दोहों में निहित भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक चमत्कार एवं ऐन्द्रिय संवेदना की सरस अभिव्यक्ति के कारण बिहारी-सतसई रीति युग में सर्वाधिक सम्मान की अधिकारिणी रही है। 'बिहारी-सतसई' में बिहारी के व्यक्तित्व, जीवन-

१. कविवर बिहारी—रत्नाकर, भूमिका, पृ० १३।

दर्शन एवं काव्य परम्परा की गहरी अभिव्यक्ति हुई है। यह दो टूक सत्य है कि रचनाकार अपनी कृति में जिन विचारों, भावों एवं कल्पनाओं का प्रयोग करता है वे उसके जीवनानुभव, व्यक्तित्व-बोध तथा युग-बोध से सम्बद्ध होती हैं। अतः किसी रचना की समुचित व्यवस्था के क्रम में कवि के जीवन-परिवेश एवं काव्य-परम्परा का अध्ययन भी अत्यावश्यक होता है। बिहारी को हम उनके युग की उपज कह सकते हैं। जिस वातावरण में उनके कवि व्यक्तित्त्व का निर्माण हुआ था तथा जिस सामाजिक परिवेश में उनके जीवन-दर्शन की स्थापना हुई थी, बिहारी के काव्य की समस्त उपलब्धियों को हृदयंगम करने के लिए उस पर भी प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

बिहारी के वंश-परिचय एवं काल-निर्धारण की कठिनाई उनके साथ ही नहीं बल्कि संभवतः मध्यकाल के सभी साहित्यकारों एवं कवि मनीषियों के साथ है। पूरा-का-पूरा वह युग ही आत्म प्रकाशन के प्रयत्न से विलग रहा है। यह अवश्य सही है कि प्रत्येक कवि से संबंधित रचनाओं में कहीं-कहीं उसके जीवन से सम्बद्ध कुछ तथ्य रचनाओं में सुलभ हो जाते हैं लेकिन उनमें निश्चितता एवं स्पष्टता का अभाव है। यही कारण है वंश-परिचय एवं काल-निर्धारण के सन्दर्भ में मध्यकालीन कवि विवाद एवं अनुसंधान के विषय बने हैं। बिहारी के वंश और पिता के संबंध में जो प्रसिद्ध और बहुचर्चित दोहा उपलब्ध है उसके आधार पर यह ज्ञात होता है उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, वे अन्यत्र से आकर ब्रज में बसे थे और उनके पितृश्री का नाम केशवराय था। केशवराय को लेकर अनेक अटकलबाजियाँ लगाई जाती रही हैं कि वे केशवराय क्या महाकवि केशव थे अथवा कोई अन्य? आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र किसी दूसरे कवि को बिहारी का पिता मानते हुए लिखते हैं, "बिहारी के पिता कोई प्रसिद्ध कवि थे, इसमें तो संदेह नहीं। बिहारी के जिस दोहे की टीका में कृष्णलाल ने पिता और श्रीकृष्ण की युगवत् वंदना वाली बात लिखी है, उससे तो उक्त केशव के कवि होने का समर्थन उतना अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि पिता की वन्दना बिना कवि हुए भी कोई कर सकता है। किन्तु बिहारी के भानजे कुलपति

मिश्र ने अपने 'संग्राम-सार' के मंगलाचरण में जिस प्रकार अपने नाना का स्मरण किया है उससे यह स्पष्ट है कि वे कोई प्रसिद्ध कवि अवश्य थे। ग्रंथ के आरम्भ में एक तो नाना की वन्दना करने का कोई प्रचलन नहीं, दूसरे वे कम-से-कम यदि किसी विशेष कारण से करते भी तो उन्हें कविवर की उपाधि कभी न देते।" मिश्रबंधुओं के मतानुसार 'केशवराय' का प्रयोग बिहारी के पिता के लिए न होकर संभवतः श्रीकृष्ण के लिए हुआ है। विद्वानों की अधिक संख्या यह तो अवश्य मानती है कि बिहारी के पिता का नाम केशव-राय था, लेकिन वे केशवराय आचार्य केशवदास थे या कोई दूसरे केशव कवि, इस सन्दर्भ में अनेक मत प्रस्तुत किए गये हैं। आचार्य मिश्र के पूर्व बाबू राधाकृष्णदास ने प्रसिद्ध आचार्य केशवदास को बिहारी का पिता माना था तथा रत्नाकर जी ने बिहारी को आचार्य केशव का पुत्र न मान कर शिष्य मानने में समीचीनता समझी थी। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त बिहारी को आचार्य केशवदास का पुत्र मानते हैं। इस प्रकार सभी विद्वान् अपने-अपने अनुमान के आधार पर केशवराय और बिहारी के संबंधों की अवधारणा करते रहे हैं। यह सर्वथा सिद्ध है कि बिहारी सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये माथुर चौबे थे तथा इनका जन्म ग्वालियर में हुआ था। बाल्यावस्था बुंदेलखंड में तथा यौवन काल ससुराल में बीता था। बिहारी राजा जयसिंह के आश्रित थे।

बिहारी के व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन पर उनकी वंश-परंपरा का गहन प्रभाव है। राज्याश्रयजन्य आभिजात्य प्रभाव बिहारी के कृतित्व से स्पष्ट लक्षित होता है। उनके अध्ययन की व्यापकता एवं गंभीरता का प्रमाण उनके वे दोहे हैं जिन पर गाथा सप्तशती, अमरुक-शतक, आर्या-सप्तशती, ज्योतिष, वैद्यक, कामशास्त्र, दर्शन आदि का पर्याप्त प्रभाव है। बिहारी को अपनी कुलीनता एवं नागरिकता का अभिमान रहा है और उन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रामीण संस्कारों पर व्यंग्य भी किए हैं। बिहारी प्रतिभा के धनी रहे हैं। उन्होंने अपनी सतसई में ऐसी मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं जिनका परम्परा से कोई संबंध नहीं है। नारी सौन्दर्य की विविध

मुद्राओं को अंकित करने में उनकी कल्पनाशक्ति की सफलता के दर्शन होते हैं। उनमें नूतन प्रसंगों की उद्‌भावना एवं प्रस्तुत करने की विशिष्ट क्षमता दिखाई पड़ती है। अत्यन्त सुविकसित रुचि के नागरिक होने के कारण बिहारी का नगर-जीवन पर विशेष गर्व रहा है। उन्होंने अपनी कृति में अपनी आभिजात्य रसिकता को श्रृंगारिक रचनाओं के माध्यम से व्यंजित किया है। उनके व्यक्तित्त्व पर युगीन वातावरण का स्पष्ट प्रभाव है। शाहजहाँ द्वारा निर्मित ताजमहल जिस युग के सौन्दर्य बोध, ऐश्वर्य एवं कलात्मकता का प्रतीक है उसी युग से सम्बद्ध व्यक्तित्त्व बिहारी का है। यह बहुचर्चित है कि यह युग धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से विकृत जीवन-दर्शन, रूढ़ियों के अनुगमन, नैतिकता एवं आदर्श के ह्रास का युग है। युगीन जीवन-दर्शन से बिहारी का काव्य भी अनुप्रेरित रहा है। फिर भी अपनी सर्जना में बिहारी अपने व्यक्तित्त्व एवं मौलिकता का परिचय देने में समर्थ हो सके थे। बिहारी सामंत कवि थे और सभी सामंती सुविधाओं के बीच उनके व्यक्तित्त्व का निर्माण हुआ था। रीतिकालीन परिवेश से सम्बद्ध विविध कलाओं, ऐश्वर्य प्रसाधनों तथा भोगमूलक उपकरणों से उनका सीधा सम्पर्क रहा है। सौन्दर्य के वस्तुमूलक चित्रण एवं दैहिक सौन्दर्य की विविध मुद्राओं एवं भंगिमाओं को रेखांकित करने के साथ ही भक्ति-भावना को भी संचारी रूप में वे प्रस्तुत कर सके हैं। रसराज का निरूपण करने में उनका मन विशेष रूप से रमा है। अनुभूति के सूक्ष्म स्तरों की पकड़ एवं भावप्रवणता तथा गहन संवेदनशीलता तो उनमें रीति मुक्त कवियों-सी नहीं दिखाई पड़ती फिर भी नारी के दैनिक सौन्दर्य का अत्यन्त उत्तेजक, मादक एवं अकुंठित स्वरूप उनकी रचनाओं में चित्रित हुआ है। इसके साथ ही दरबारी जीवन से सम्बद्ध विविध राजनीतिक षड्यंत्रों, दाँव-पेंचों एवं व्यंग्य-वक्रोक्तियों को भी उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है। जीवन की विविध एवं व्यापक अनुभूतियों को प्रस्तुत करने की तुलना में नारी सौन्दर्य के मादक रूपों को उरेहने में वे अपना सानी नहीं रखते। भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न लक्षणों की पूर्ति तथा चमत्कार प्रदर्शन भी उनकी

काव्य-प्रेरणा के उत्स रहे हैं। उनकी कविता आत्मतुष्टि के लिए रचित न होकर विशेष रूप से श्रोताओं, पाठकों एवं आश्रयदाता की संतुष्टि, यश-लिप्सा आदि से अनुप्रेरित रही है। फिर भी उनकी वुद्धि-निपुणता एवं कलात्मकता को नकारा नहीं जा सकता जिनके द्वारा उनके दोहे आकर्षण के केन्द्र वन सके हैं। सामंती परिवेश से पलती हुई अमानवीय प्रवृत्तियों एवं कलुषित मानसिकता की आलोचना करने में उन्होंने अपने व्यक्तित्त्व वोध का परिचय दिया है। उनके दोहों में तत्कालीन जनता के लिए ज्ञान तथा उपदेश सम्वन्धी निरूपण एवं मानव-चरित्र की व्याख्या भी हुई है।

बिहारी के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व की समीक्षा के सन्दर्भ में काव्य एवं जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा जीवन-दर्शन की व्याख्या भी समीचीन है। उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट हो चुका है कि बिहारी की मानसिकता का निर्माण सामन्तवादी भोग-विलास की प्राप्ति एवं ऐन्द्रिय तृप्ति को ही जीवन का साध्य मानने वाले परिदृश्य से हुआ है। इसीलिए बिहारी स्वयं उद्घोष भी करते हैं—

तंत्रीनाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बड़े तरे, जे बूड़े सब अंग।।

कहना न होगा कि तंत्रीनाद से लेकर सरस राग, रति-रंग रीतिकालीन कवियों के जीवन का परम ध्येय भी रहा है। इस सन्दर्भ में भी निर्विवाद है कि तत्कालीन परिवेश में संगीत, कला आदि को स्वतंत्र जीवन-साधना के रूप में महत्त्व नहीं मिल सका है। ये सभी कलाएँ विलासिता एवं मनो-रंजन की उपकरण मात्र हैं। उपभोग एवं ऐन्द्रिय तृप्ति की सहयोगिनी हैं। इनके प्रति कवियों में आध्यात्मिक आस्था के दर्शन नहीं होते। फिर भी कला एवं साहित्य के प्रति उनकी यह रसिकता मात्र वैलासिक मनोभूमि से सम्वद्ध नहीं है वरन् सामाजिक प्राणी वनने के लिए एवं जीवन के विविध सुखों के भोग के लिए इन कलाओं से गहरा सम्पर्क भी अत्यावश्यक है।

भारतीय जीवन का नियामक धर्म रहा है। इसी धर्म से सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ संचालित होती रही हैं। मध्यकालीन कवि होने के कारण बिहारी धार्मिक वाद-विवादों का समाधान देने से चूक नहीं सके हैं। यदि किसी दोहे में वे निर्गुणवाद का समर्थन करते दीखते हैं तो किसी दोहे में सगुण मार्ग का समर्थन भी करते हैं। कहीं अद्वैत मार्ग का प्रतिपादन करते हैं तो कहीं धार्मिक वाद-विवादों की व्यर्थता की भी चर्चा करते हैं। कहीं उन्हें नाम-जप, माला आदि व्यर्थ प्रतीत होते हैं तो कहीं नाम-जप आदि की महत्ता का गुणगान भी करते हैं। इसी प्रकार नैतिक परम्पराओं एवं मर्यादाओं की व्याख्या करते हुए वे अपनी युगीन दृष्टि से नवीन प्रतिमान भी गढ़ते हैं। लोक-जीवन के लिए उन्होंने नीति-नियम भी अपने जीवन-बोध के अनुसार गढ़े हैं। कहा जाता रहा है कि बिहारी अपनी ससुराल में अपने जीवन के अधिकांश क्षणों को बिताने का सुअवसर प्राप्त कर सके हैं। ससुराल में दामाद की क्या स्थिति होती है, इसकी बड़ी ही मार्मिक व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा भी है—

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरह जँवाई लौं घट्यौ खरौ पूस-दिनमानु॥

गुणग्राहकता बिहारी में आभिजात्यवादी मनोवृत्ति के कारण विशेष रूप से रही है। विलास एवं वैभव के युग में जन्म लेकर भी धन एवं वैभव को उन्होंने सर्वस्व नहीं मान लिया था बल्कि उसे तो उन्होंने जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में महत्त्व प्रदान किया था। 'खाये खरचे जो जुरै तौ जोरिये करोरि' कह कर वे धन की गौणता का परिचय देते हैं। वे भाग्यवादी थे तथा ईश्वर द्वारा दिये गए सुख-दुःख को समभाव से ग्रहण करने के पक्षपाती थे। सुखी जीवन का आदर्श स्थापित करते हुए उन्होंने लिखा भी है—

पटु पाँखै, भखु काँकरै सपर परेई संग।
सुखी, परेवा, पुहुनि मैं, एकै तुंही विहंग॥

आशय यह कि आवश्यकताओं को कम करते हुए तथा रहन-सहन में सादगी लाते हुए सरस दाम्पत्य जीवन बिताना ही उनका आदर्श था। नम्रता और संतोष को उन्होंने जीवन से अत्यावश्यक माना था। बाह्य आडंबर एवं मिथ्या अहंकार आदि को उन्होंने हेय मानते हुए लिखा भी है—

बड़े न हूजै गुनन बिनु, बिरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ॥

व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों स्तरों पर विनय बिहारी के जीवन का सर्वस्व था। इसीलिए गोपीनाथ को ही सम्बोधित करते हुए उन्होंने निवेदन किया था—'गुन औगुन-गननु. गनौ न गोपीनाथ।' फिर भी अपने स्वाभिमान की बलि चढ़ाना उन्हें रुचिकर न था। गुणवान होकर किसी के गले पड़े रहने में और लोभवशात् उपहास कराने में उनकी रुचि नहीं थी—

जनमु जलधि, पानिपु बिमल, भौ जग आपु अपारु।
रहै गुनी ह्वै गर-पर्‌यौ, भलैं न मुकता-हारु॥
गहै न नेकौ गुन-गरबु, हँसौ सबै संसारु।
कुच उचपद लालच रहै, गरैं परैं हूँ हारु॥

इस प्रकार लोक-व्यवहार की पूरी साधना बिहारी ने की थी। सामाजिक जीवन के विधि-विधानों का गहराई से उन्होंने बोध प्राप्त किया था। यदि एक ओर वे मैत्री के लिए पावनता एवं निष्कपटता की अपेक्षा समझते थे तो दूसरी ओर पारमार्थिक चिंतन में कंचन और कामिनी बाधा स्वरूप भी उन्हें प्रतीत होते थे। धार्मिक सहिष्णुता की उन्होंने मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी तथा धार्मिक बाह्याडंबरों को फूटी आँखों से भी नहीं देखा था। सत्संगति की महत्ता का प्रतिपादन वे बड़े कलात्मक ढंग से करते हुए लिखते हैं—

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-बास बेसर लह्यौ बसि मुकुतन कै संग॥

प्रेम और सौन्दर्य की महत्ता से बिहारी पूर्ण परिचित थे। पर रसिक होने के कारण प्रेम के प्रति उदात्त दृष्टिकोण का परिचय वे न दे सके। युवावस्था की बिछलन एवं मादकता को रेखांकित करने में ही वे प्रणयानुभूति की सार्थकता समझते रहे। यह सही है कि प्रेम के महनीय स्वरूप की चर्चा करते हुए वे इस तथ्य से परिचित अवश्य थे कि—

गिरि तें ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजार।
बहै सदा पशु नरन को प्रेम-पयोधि पगार॥

फिर भी इस प्रेम-पयोधि की व्यापकता एवं आंतरिक सौन्दर्य से सामन्तवादी कवि बिहारी स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति परिचित नहीं हो सके। वे रूप का वर्णन करने में तो अत्यन्त सफल मनोरथ हो गये थे पर प्रणयानुभूति की व्यापकता एवं गहराई का बोध वे उपभोग प्रधान युग में नहीं कर सके थे। आशय यह कि दैहिक सौन्दर्य की विविधि रेखाओं को अंकित करने में ही उन्होंने अपने कवि कर्म की सार्थकता एवं पूर्णता समझ ली थी, प्रेम के आन्तरिक एवं आत्मिक स्वरूपों की गहराई से परिचित होने का अवसर उस युग-विशेष में उन्हें नहीं सुलभ हो सका था। प्रेम को उन्होंने युवावस्था की सौन्दर्यानुभूतिजन्य विवशता के रूप में रेखांकित किया था तथा वे जानते थे कि यौवन की सरिता को पार करते समय सभी को यह औगुन करना पड़ता है जिसमें कुछ भीग कर, कुछ रपट कर और कुछ लोग डूब कर अपने जीवन बोध को प्राप्त करते हैं। उन्हें पूरी तरह यह ज्ञात था कि बिथुरे-सुथरे बालों को देखकर मन पथ-कुपथ का ज्ञान छोड़ देता है और प्रेम के संसार में रीति-नीति, नियम-मर्यादा आदि को भंजित होना पड़ता है। यौवन-काल में छेड़-छाड़ करने वाली आँखों एवं भोगने वाले मन की व्यथा से बिहारी पूर्ण परिचित थे।

सौन्दर्यशास्त्रियों के मध्य सौन्दर्य के वस्तुगत एवं व्यक्तिगत रूप को लेकर विवाद होते रहे हैं लेकिन बिहारी के लिए उन प्रश्नों में कोई सार्थकता नहीं है। उनके अनुसार तो जिसमें जिसके लिए जितनी रुचि है, वही उसको

उतना ही सुन्दर है अथवा जहाँ जिसकी तृप्ति हो जाती है वही उसके लिए समुद्र है—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥
अति अगाध अति ओथरौ, नदी, कूप, सर, बाइ।
सो ताको सागरु, जहाँ जाकी प्यास बुझाइ॥

इस प्रकार सौन्दर्य के संबंध में उन्होंने अत्यन्त व्यावहारिक मार्ग का अनुगमन किया है। रूप-कुरूप के विवाद में वे नहीं पड़ते, व्यक्ति की इच्छा की कसौटी पर सुरूप एवं कुरूप के निर्धारण को वे न्याय-संगत मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है बिहारी अपने जीवन-दर्शन में अत्यन्त व्यावहारिक एवं मध्य मार्ग का अनुकरण करने वाले कवि रहे हैं। धर्म हो अथवा दर्शन, नीति-नियम-परम्परा अनुगमन हो या मौलिक उद्भावना, प्रेम-सौन्दर्य विषयक धारणा हो अथवा सामाजिक संघर्ष सभी के बीच उन्होंने संतुलित जीवन-दृष्टि को महत्ता प्रदान की है। इस प्रकार वे न तो आदर्शवादी सिद्ध होते हैं न स्वच्छन्दतावादी बल्कि वे तो व्यवहारवादी हैं। दोनों मार्गों के बीच समन्वय का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने बिहारी सतसई में अनेक जीवन-बोधों एवं अनुभवों को प्रस्तुत किया है। अंतः साक्ष्य के आधार पर उनके व्यक्तित्त्व एवं जीवन-दर्शन का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वे अपनी रुचि एवं मान्यताओं में अत्यन्त व्यावहारिक रहे हैं। अपने अगाध पांडित्य एवं सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के माध्यम से जीवन के विविध अनुभवों को उन्होंने 'सतसई' के दोहों में कलात्मक ढंग से मूर्तिमान करने का प्रयत्न किया है। बिहारी के जीवन दर्शन की अवधारणा को रीतिकालीन परिवेश से हम पृथक् नहीं कर सकते। रीतिकाल की सांस्कृतिक चेतना और युग-दर्शन से बिहारी बँधे रहे हैं। यह निर्विवाद है कि रीतिकालीन साहित्य से सम्बद्ध राजनीतिक जीवन अंतर्विरोधों एवं सीमान्त उपद्रवों से अव्यवस्थित होते हुए भी भोग्या नारी की क्रीड़ा में व्यवस्था पाता रहा है, सुरा और सुराही में निर्भ्रान्त होकर

अपने मधुरतम स्वप्नों में डूबता-उतराता रहा है। सामन्तवादी मनोवृत्तियों की रुग्णता एवं प्राणहीनता का प्रभाव देश की सांस्कृतिक अंतश्चेतना पर विशेष रूप से पड़ा है। भोगपरक वैलासिक जीवन-दृष्टि से सम्बद्ध सामन्ती दरवार के आश्रय में पलने वाला साहित्य और साहित्य-निर्माता भी अपने सामाजिक परिसर से अछूते नहीं रह सके हैं। जीवन के प्रति ऐहिक एवं वस्तुवादी दृष्टिकोण को अनुप्रेरित करने वाले मुगल दरवारों की भोगमूलक मनोवृत्ति को कभी भी अलक्षित नहीं किया जा सकता। विहारी के दोहों की नायिका आकाश कुसुम नहीं थी और न तो कल्पित ही थी वल्कि वह तो उनके देखे हुए समाज की थी। मुगल रनिवासों में अप्सरा सौन्दर्य को मात करने वाली चन्द्रमुखी वेगमों की समर्पण आकुलता और उद्दाम प्यास के साथ-ही-साथ गदराई देह के उतार-चढ़ाव को, 'ऐसे ही रह तू नारि' आदि के आदेश देकर विहारी नाप चुके थे। वे उन मुगल सम्राटों के रनिवासों से अपरिचित नहीं थे जहाँ कई शतक वेगमें थीं, जहाँ कुट्टनियाँ प्रत्येक प्रांतों में इसी उद्देश्य से विखरी हुई थीं कि रूप-रस की खान चन्द्रमुखियों को रनिवासों में पहुँचा सकें। जहाँ शृंगारिक ग़ज़लों एवं कथाओं से रनिवासों का मनोरंजन किया जाता था, कामकेलि की विविध शिक्षाएँ दी जाती थीं, शृंगार प्रसाधन, साहित्य-संगीत के साथ-ही-साथ जहाँ मनोरंजन के साधनों में शतरंज, चौसर, शिकार, पतंगवाजी तथा पशु-पक्षियों की लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इस प्रकार रीति-युग की दरबारी संस्कृति एवं औपचारिक शिष्टता से, शृंगार-प्रसाधन के विविध उपकरणों एवं कामकेलि के वातावरण से सम्बद्ध रहस्यों से विहारी पूर्ण परिचित थे। उन्हें पूरी तरह ज्ञात था कि वेगमें किस प्रकार चन्द्राकार अटारियों के झरोखों से प्रेमियों की प्रतीक्षा में अपने नयन-कपाट खोले रहती हैं, अपने समूचे तारुण्य में सँवरी-सुथरी वे किन गंधमयी वाटिकाओं में विहार करती हैं, अभिसार लीलाओं में वे किस प्रकार वनती-ठनती हैं, दूतियाँ किस प्रकार मिलन के लिए समय और स्थान की खोज करती हैं। इसी के साथ यह तो उनका गार्हस्थिक वोध भी था। ससुराल के रससिक्त जीवन की उन्होंने गहरी अनुभूति भी

की थी। वे भलीभाँति जानते थे कि प्रेमिकाएँ किस प्रकार लज्जानत बनी हुई समर्पण आकुल होकर निगोड़ी पायल को उतार देती हैं, श्रेष्ठ जनों की आँखों से बचतीं और उन्हें ठगतीं प्रियतम की शय्या पर दबे पाँव पहुँचकर बिल्ली की चाल को भी चुनौती देती हैं। नायक-नायिका और प्रेमी-प्रेमिका के विविध चित्रों, सुरति की विभिन्न चेष्टाओं में विहारी ने स्वयं अपने को, अपने जीवनानुभवों को ही साकार बनाने का प्रयत्न किया है। शृंगार एवं दैहिक सौन्दर्य से सम्बद्ध उद्दीपनकारी वर्ण एवं गंध के विविध चटकीले एवं तीव्र सुगंध वाले पुष्पों और इत्रों से सुसज्जित वधुएँ आकर्षण की केन्द्र बनी रहा करती थीं। देव ने अपने अष्टयाम में उनकी दिनचर्या का बड़ा ही सजीव वर्णन करते हुए बताया कि किस प्रकार रनिवास गंधमय बने रहते थे। नायिकाओं की केशराशि अगरु से सुवासित रहती थी। गदरायी शरीर यष्टि झीने रेशमी परिधान में द्रष्टा को विकल बना दिया करती थी और किस प्रकार रतिश्रांत शिथिल अंगों वाली नायिकाएँ संकोच एवं लज्जा से विनत बनी हुई प्रथम प्रहर में जगतीं, दूसरे प्रहर में नित्य क्रियाओं से मुक्त हो भोजन एवं ताम्बूल आदि ग्रहण करतीं। तीसरा प्रहर प्रिय की प्रतीक्षा में व्यतीत होता। चौथे प्रहर में शृंगार प्रसाधन से अलंकृत होकर पाँचवें प्रहर में प्रिय आगमन के स्वागत में तल्लीन होतीं। छठवें प्रहर में मीठी मसलन, चुटीली चुटकियाँ, प्यासे चुम्बन, भूखे आलिंगन तथा रति-क्रीड़ाएँ सम्पन्न होतीं। सातवें में नायक-नायिका शिथिल देह हास-परिहास करते अर्धनिद्रित हो जाते और आठवें प्रहर में एक दूसरे की भुजाओं में लिपटकर सो जाते। ऋतुओं के अनुकूल विलास क्रीड़ाएँ सम्पन्न होती थीं। भोजनादि व्यवस्था एवं ऐश्वर्य प्रसाधन में रीतिकालीन नायक-नायिका अलकापुरी की श्री शोभा को भी झुठला देते। सुरा-सुराही के बीच कामिनी की देहच्छवियों की आराधना इस युग के सामाजिक जीवन की प्रधान प्रवृत्ति बन गयी थी। फिर भी वैभव एवं ऐश्वर्य के उपर्युक्त विशद वर्णन का संबंध मध्यकालीन सामन्ती समाज एवं राज्य दरबार से ही था। इसी युग में समाज में ऐसे दो वर्ग भी थे जिनकी माली हालत की

तुलना किसी भी स्तर पर सामन्ती ऐश्वर्य से नहीं हो सकती। बिहारी के काव्य में जिस परिवेश को शब्द दिए गये हैं उसका संबंध विशेष रूप से उच्च वर्ग से ही रहा है। ये राज्य दरबार अपने जीवन-दर्शन एवं सामाजिक परिदृश्य में जन-साधारण से सर्वथा भिन्न रूप से रेखांकित किये जा सकते हैं और इन्हीं दरबारों की मानसिकता को जिसमें वचन-वक्रता, छल-छद्म एवं अभिजातीय औपचारिकता की प्रधानता रही है, रीतिकालीन राज्याश्रित कवियों ने अपने साहित्य में प्रस्तुत किया है।

रीतिकालीन परिवेश के परिप्रेक्ष्य में बिहारी के कृतित्व की समीक्षा करते समय इस तथ्य को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि उनके काव्य में एक वर्ग विशेष की भावभूमि एवं विविध जीवन-चित्रण को ही स्थान मिल सका है। रीतिकालीन समूचे साहित्य पर जिस प्रकार का यह आक्षेप लगा रहता है कि इसमें जीवन की विविधता एवं व्यापकता को वाणी नहीं मिल सकी है अथ च पूरे युग जीवन की साँस वह नहीं बन सका है, वही आरोप बिहारी के कृतित्व को लेकर भी लग सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'रीतिकाव्य की भूमिका' में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि कवि कलाकारों का संबंध (रीति युग में) मध्यम वर्ग से रहा है। उनके पैर यथार्थ की धरती पर थे तथा सिर आकाश को छूने का प्रयत्न कर रहा था। अर्थात् एक ओर तो वे समाज के सर्वहारा वर्ग से अपने को विशिष्ट अनुभव कर रहे थे तो दूसरी ओर अपनी आशा और आकांक्षा में यानी अपनी महत्त्वाकांक्षा में उच्च वर्ग के स्वप्नों में खोये हुये थे। कहा जाय तो ये राजाओं एवं सामन्तों के मुखापेक्षी बने हुये थे। भारतीय कृषक वर्ग की दशा मध्ययुग में शोचनीय थी क्योंकि मध्यम वर्ग एवं उच्च वर्ग की सुख-सुविधाओं को जुटाने में यह वर्ग अपने को अर्पित किए हुए था। विडम्बना यही है अपनी सहृदयता को विस्मृत कर रीतिकालीन कवि इस वर्ग की आशा-आकांक्षा तथा हर्ष-विषाद को शब्द देने में असमर्थ रहे और परिणामस्वरूप उनका साहित्य रूप-विन्यास में इतना अधिक आकर्षक

होते हुये भी भाव जगत् में अनुभूति की व्यापकता और गहराई को पाने में अक्षम सिद्ध हुआ।

रीतिकालीन साहित्य में नारी के जिस दैहिक रूप की अर्चना व आराधना हुई, स्थूल सौन्दर्य के जो मादक चित्र उरेहे गये उनका संबंध मध्यकालीन नारी की सामाजिक स्थिति से है। मन के मूल्य के बदल जाने पर देह-मूल्य भी बदल जाते हैं। रीतियुगीन नारी विषयक विकृत मानसिकता का सम्बन्ध सामन्तवादी नारी-दृष्टिकोण से है। नारी मात्र शरीर ही नहीं, प्राण सम्पन्न चैतन्य शिखा भी होती है, प्रेरणा और जीवनी शक्ति भी होती है, इस बोध से रीतिकालीन चिंताधारा असम्पृक्त रही है। नारी व्यक्तित्त्व की महत्ता के बोध से सामन्तवादी मनोभूमि रिक्त बनी रही और कहें तो कह भी सकते हैं कि पूरा युग ही नारी के भोग्या एवं वस्तुपरक रूप से सम्बद्ध था। नारी मांसल उपकरण बनकर राजाओं की भाँति ही जन-जीवन को भी लुभा रही थी। रीतिकालीन भोगपरक जीवन-दर्शन ने नारी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ ही स्थापत्य, चित्र, संगीत एवं नृत्यादि कलाओं में भी अपने वस्तुवादी रूप की अभिव्यंजना की। रीतियुगीन वस्तुपरक सौन्दर्यबोध की अभिव्यक्ति वासना के उद्दाम वेग से सम्पृक्त होकर विविध कलाओं में मूर्तमान हो सकी। युग जीवन की काममूलक ऐहिक दर्शन की अभिव्यक्ति के रूप में विविध कलाकृतियों को लक्षित किया जा सकता है जिनका निर्माण मध्यकाल में हुआ। ये कलाकृतियाँ उस युग के सौन्दर्यबोध, वासनात्मक जीवन दृष्टिकोण एवं ऐहिकतापरक मानसिकता की अभिव्यक्ति है।

बिहारी सतसई में भगवद्भक्ति एवं अध्यात्म ज्ञान के संदर्भ में आस्थामूलक गहराई के जिस अभाव को हम देखते हैं उसका कारण युग विशेष की उस धार्मिक मनोवृत्ति से है जिसमें राधाकृष्ण सुमिरन के बहाने और राम-सीता नायक-नायिका बनकर कवि कलाकारों के वासना-विह्वल हृदय की अभिव्यक्ति के माध्यम बनने लगे थे। इस तथ्य के सन्दर्भ में आज किसी प्रकार की शंका नहीं है कि पूर्व मध्यकाल की आध्यात्मिक आस्था

मुस्लिम संस्कृति की ऐतिहासिक प्रवान जीवन दृष्टि के संसर्ग से ऐन्द्रिय धरातल पर उतरने के लिए वाध्य-सी हो चली थी। रीतिकाल के कवि राधाकृष्ण की आध्यात्मिक मर्यादा एवं नैतिकता, पावनता एवं अलौकिकता को वनाये न रह सके। रीतिकालीन भोगपरक मानसिकता के संसर्ग से राम और सीता का मर्यादित रूप भंजित हुआ। उनकी प्राचीन मूर्ति टूटी। वादशाह-वेगमों के अनुरूप ही नायक-नायिका के रूप में राधा-कृष्ण अभिसार लीलाओं में मुक्त हृदय से तन्मय होने लगे। राधा-कृष्ण के परम्परित रूप के प्रति आस्था, विश्वास एवं अनुभूति के गहन स्तरों को क्षीण होना पड़ा, अनुराग एवं सौन्दर्य की पवित्रता मलीनता में परिणत होने लगी। कामवासना के उदात्तीकरण एवं सौन्दर्य के आत्मिक स्वरूप की महत्ता से रीतियुगीन भावभूमि अपरिचित वनी हुई थी। राधा को साधारण नायिका के रूप में उपस्थित करने में इस काल के कवि किसी भी प्रकार के संकोच का अनुभव न कर सके। इस प्रकार युग की अन्तश्चेतना के रूप ही रीतियुग में धार्मिक प्रतिमानों को गढ़ने का प्रयास किया गया। धर्म और काम के गठवन्धन से निर्मित जीवन-दर्शन में काम के सूत्र ही सवल वने रहे। कामशास्त्र की व्यापक भारतीय परम्परा के प्रति अनुराग दिखाकर रीतिकालीन कवियों ने राजन्य संस्कृति की भोगपरक रुचियों की अभिव्यक्ति अत्यन्त मांसल एवं उद्दीपक चित्रों को उरेहने में की।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों पर भारतीय काव्य सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव रहा है। प्रत्येक कवि अपनी सर्जनात्मक भूमिका में किसी-न-किसी काव्यादर्श से बँधा होता है। विहारी के सन्दर्भ में भी इस तरह की अनेक चर्चाएँ होती रही हैं। समीक्षकों ने उन्हें ध्वनिवादी, अलंकारवादी और रसवादी खित्ते में रखकर अपनी स्थापना की पुख्ता के सन्दर्भ में अनेक प्रमाण दिये हैं। यदि डॉ० रामसागर त्रिपाठी अपने शोध प्रवन्ध में विहारी को ध्वनिवादी सिद्ध करते हैं तो 'विहारी सतसई-वैज्ञानिक समीक्षा' में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त विहारी को अलंकारवादी,

INSTITUTE OF ADVANCED ... Acc. No. 97858

अलंकारवादी या रसवादी कहने की अपेक्षा समन्वयवादी कहना अधिक युक्तिसंगत समझते हैं। इसी के साथ-साथ विहारी के रीतिबद्ध और रीतिमुक्त साहित्यिक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में अनेक विवाद उठते रहे हैं। आचार्य शुक्ल विहारी को रीतिबद्ध मानते थे। उन्होंने स्वयं लिखा भी है 'विहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रंथ के रूप में अपनी सतसई नहीं लिखी पर नख-शिख, नायिका-भेद, षट्ऋतु के अन्तर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं।...दोहों को बनाते समय विहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसीलिए हमने विहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख कर उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।" पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी को आचार्य शुक्ल की यह बात नहीं जँची और उन्होंने मौलिक ढंग में आचार्य शुक्ल के मत से अपनी असहमति प्रकट करते हुए लिखा—"स्वयं विहारी रीति ग्रंथों के अच्छे जानकार रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनके प्रत्येक दोहे में किसी-न-किसी नायिका को खोज लेना यह नहीं सिद्ध करता कि वे रीति ग्रंथ लिख रहे थे।" आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने मध्यम मार्ग अपनाते हुए रीतिबद्ध और रीतिमुक्त जैसे श्रेणी विभाजन को विहारी के सन्दर्भ में अवैज्ञानिक समझते हुए एक तीसरी ही श्रेणी की स्थापना करके उन्हें रीतिसिद्ध कवि माना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"शृंगार काल में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों से उन कवियों को भी पृथक् करना होगा जो रीतिसिद्ध हैं। जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी, अर्थात् रचनाएँ जिन्होंने रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल ही की हैं पर लक्षण ग्रंथ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से अपनी रचनाएँ रची हैं। वे वस्तुतः मध्यम मार्गी थे। रीति से बँधे भी थे और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलते थे।.. विहारी के दोहे दूसरे लोगों से विशेषतया रीति ग्रंथ लिखने वालों से जो पृथक् किए जा सकते हैं उनका हेतु यही है कि विहारी रीति से बँध कर भी स्वतंत्र हैं।" कहना न होगा कि आचार्य मिश्र जी का विचार पर्याप्त वैज्ञानिक है। इस सन्दर्भ में दो मत नहीं हो सकते कि बिहारी ने काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन कर अपनी रचना में

उस ज्ञान का व्यवहार भी किया है। उन्होंने रस, नायिका भेद, नखशिख आदि सभी विषयों का सम्यक ढंग से निरूपण किया है। पर यह निरूपण सायास न होकर सहज रूप में हो सका है। साथ ही काव्यशास्त्र की परिधि से पार जा कर बिहारी ने अपने सामान्य ज्ञान पर आधृत दर्शन-शास्त्र, नीतिशास्त्र, भक्ति, ज्योतिष से सम्बन्धित दोहों की भी रचना की है। ये दोहे उनके आत्मबोध से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार बिहारी के काव्य में काव्यशास्त्रीय चिन्ताधारा के साथ ही उनकी स्वतंत्र काव्य-चेतना भी निरूपित हो सकी है।

कहते हैं कि हिन्दी साहित्य में रामचरितमानस के अध्ययन के पश्चात् काव्य-रसिक जनता की रुचि बिहारी सतसई के आस्वादन में सर्वाधिक संलग्न रही है। मतिराम सतसई, शृंगार सतसई तथा दुलारे दोहावली आदि सतसइयों की अपेक्षा बिहारी सतसई की कीर्ति गाथा विशेष रूप से साहित्य-मर्मज्ञों के बीच गाई जाती रही है। उसकी टीकाओं की संख्या भी अत्यधिक है। शब्दों की कारीगरी, वाग्वैदग्ध, हावों और चेष्टाओं के मनोहर चित्रण, भाषा सौष्ठव तथा संचारियों की आकर्षक व्यंजना आदि की दृष्टि से बिहारी सतसई अन्य सतसइयों की तुलना में अधिक आकर्षण-पूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण है। कथ्य एवं अभिव्यंजना प्रसाधन दोनों स्तरों पर बिहारी सतसई सामंतीय ऐन्द्रिय बोध एवं वस्तुवादी जीवन-दृष्टि की सशक्त अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य के सूक्ष्मतम स्तरों को पकड़ने में समर्थ बिहारी के काव्य की भाषा अत्यधिक लाक्षणिक, व्यंजनात्मक तथा समास गुण से सम्पन्न है। रीतिकालीन साहित्य की अंतश्चेतना शृंगार से सम्बद्ध रही है। बिहारी सतसई में शृंगार की कोमलकान्त छटा विविध रूपों में प्रतिबिम्बित हुई हैं। नर-नारी को एक-दूसरे के आकर्षण में बाँधने वाले प्रेम के मादक स्वरूपों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से बिहारी सतसई पर्याप्त समृद्ध है। अतः बिहारी-काव्य के अध्ययन के लिए बिहारी सतसई में प्रेम के स्वरूप का अध्ययन विशेष रूप से अपेक्षित है।

बिहारी की प्रेम-भावना—बिहारी ने मानव-जीवन की सर्वाधिक

सशक्त वृत्ति प्रेम और सौन्दर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों को चित्रित करने का मनोमय प्रयास किया है। जीवन में प्रेम की व्यापकता एवं सजीवता को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता। रीतिकालीन कवि प्रायः प्रेम के दैहिक धरातल के चित्रण में अधिक आसक्त रहे हैं। प्रेम के व्यापक स्वरूप तथा प्रणय की गहन अनुभूतियों से परिचित होने का उन्हें कम अवसर मिला है। आत्मिक सौन्दर्य की गहरी पकड़ के लिए जिस संवेदनशीलता की अपेक्षा होती है, उसका उनमें अभाव है। वे शरीरी सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, प्रणय अनुभूतियों की व्यंजना नहीं। प्रणय अनुभूतियों के चित्रण एवं अभिव्यक्ति में वे इसलिए भी सक्षम नहीं सिद्ध हो सके हैं क्योंकि वे रसिक रहे हैं तथा सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण वस्तुवादी रहा है। रीतिकाव्य की स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों के समान प्रेम के अनुभूतिमूलक स्वरूप से अधिकांश रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवि परिचित नहीं हैं। बिहारी की आँखें देह सौन्दर्य पर टिकी रही हैं। वे भी प्रेम को चौगान का खेल कहते हैं जिसमें अत्यधिक दाँव-पेंच और चतुराई की आवश्यकता होती है। उनके प्रेम का विकास सामाजिक दबाव के भीतर होता है। उसमें आवेग और सामाजिक रीति-नियमों के प्रति विद्रोह करने की सामर्थ्य का अभाव दीखता है जो रीतिमुक्त कवियों का सर्वस्व ही है। सामंती तथा नागर कवि बिहारी ने प्रेम की व्यापकता एवं उदात्तता की चर्चा तो अपने दोहों में अवश्य की है पर उसकी अनुभूतिमय व्यंजना करने में सफल मनोरथ नहीं हो सके हैं। शरीरी सौन्दर्य की मादक छटा प्रस्तुत करने में तथा उसके प्रभावोत्पादक रूप के वर्णन में बिहारी की मिसाल नहीं--

अंग-अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह॥
अंग-अंग नग जगमगै, दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै, बड़ी उजारो गेह॥

वैभव एवं ऐश्वर्य के प्रति आसक्त रीतिकालीन कवियों ने अपनी अलंकृत नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य की विविध मुद्राओं को बड़े ही कलात्मक ढंग से

चित्रित किया है। बिहारी को यदि कहीं श्वेत पंचतोलिया वस्त्र के भीतर से प्रतिबिम्बित होता हुआ नायिका की सुघर देह यष्टि का पीताभ सौन्दर्य जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीपशिखाओं के समान लगता है तो कहीं झीने घूंघट के मध्य चमचमाते हुये चंचल नयन विमल सुरसरिता के बीच उछलते हुए 'युग मीन' से लगते हैं। अपने नख-शिख वर्णन में (जो कि क्रमबद्ध नहीं है) बिहारी ने परंपरा का अनुगमन किया है। संयोग-वियोग के चित्रण में कवि का मन खूब रमा है। फिर भी बिहारी सतसई में जिस प्रकार शृंगार की ही बहुलता है उसी प्रकार शृंगार में संयोग चित्रों की ही अधिकता है। लगता है वियोग और प्रेम की विषमता की वेदना रीतिमुक्त कवियों—घनानंद, बोधा, ठाकुर आदि को ही सहनी थी। शारीरिक आकर्षण पर ही संयोग शृंगार टिका रहता है। बिहारी के काव्य में नायक-नायिका के शारीरिक सौन्दर्य की अनेकानेक भंगिमाओं, चेष्टाओं एवं वाचिक तथा शारीरिक परिवर्तनों एवं मानसिक अंतर्द्वन्द्वों का कलात्मक चित्रण हुआ है तथा साथ ही सुरति, विहार एवं विलास की विभिन्न दशाओं को अंकित किया गया है। दर्शन, संलाप, श्रवण एवं स्पर्श आदि संयोग शृंगार के अनेकानेक चित्र अंकित किए गए हैं। उदाहरण के लिए कतिपय चित्र अवलोकनीय हैं—

बिहँसति सकुचित सी हियें कुच-आँचर बिच बाँहि।
भीजे पट तट कों चली न्हाय सरोवर माँहि॥
अहे दहेंड़ी जिन धरै, जिन तूं लेहि उतारि।
नीके है छींके छुवैं ऐसे ही रह नारि॥

उपर्युक्त दोहों में सद्यःस्नाता नायिका की स्वाभाविक भंगिमा तथा छींके पर दहेड़ी रखने वाली नवयौवना नायिका के कमनीय चित्र प्रस्तुत किए गए हैं जो अपनी आकर्षक छवि के कारण सहृदय संवेद्य हैं। ऐसे उत्तेजक चित्रों के अवलोकन मात्र से ही मन में विचित्र तरह के संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हावों के चित्रण में बिहारी को सर्वाधिक सफलता

मिलो है। ये हाव संभोगेच्छा का प्रकाशन करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ चित्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

समरस समर सकोच बस विवस न ठिक ठहराय।
फिर फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि उझकत जाय।।
भौंह उँचै, आँचरि उलटि, मौरि मौरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, डीठि डीठि सों जोरि।।
रमण कह्यो हठि रमन को, रति विपरीत विलास।
चितई करि लोचन सतर, सलज, सरोस, सहास।।
सुनि पग धनि चितई इतै, न्हाति दियँ ही पीठि।
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी, लजीली डीठि।।
भौंहन त्रासति मख नटति आँखिन सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावत करु इंची, आगे आवति जाति।।
छिनकु चलति ठिठुकति छनकु भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति छटा, बिज्जु छटा सी नारि ।।

उपर्युक्त चित्रों का महत्त्व उनकी गत्वरता में है। प्रभाव एवं आकर्षण की दृष्टि से ये अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक हैं। इन्हीं हावों की व्यंजना पर रीझकर आचार्य शुक्ल ने लिखा था—"बिहारी की रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखायी पड़ता है। अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति कौशल के दर्शन होते हैं पर इस विधान में कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका।" काव्य-शास्त्रीय ज्ञान के साथ ही इन हावों की योजना में बिहारी ने नायिकाओं की शृंगार संबंधी चेष्टाओं के व्यापक ज्ञान एवं कल्पना के मणिकांचन संयोग का आश्रय लिया है। उन्होंने नायिकाओं की भाव संवलित चेष्टाओं के साथ उनकी विभिन्न स्थिर मुद्राओं का भी सफलतापूर्वक चित्रण किया है। बिहारी की सौन्दर्य-दृष्टि सहज आंतरिक सौन्दर्य को रेखांकित करने की तुलना में यौन-अंगों के उद्दीपक रूपों पर अधिक टिकी रही है। उनके

सौन्दर्यबोध का संबंध रसिकता से रहा है। सौन्दर्य के निर्विकार रूप के प्रति उनके मन में कम ललक रही है। यही कारण है कि महलों के वातायन से झाँकती हुई, जूड़ा बाँधती हुई तथा सद्यःस्नाता नायिका के मादक अंगों के कमनीय एवं मांसल चित्र प्रस्तुत करने में उन्होंने अपने सौन्दर्यबोध की सार्थकता समझी है। दैहिक सौन्दर्य को निरीक्षित करने वाली उनकी दृष्टि अत्यन्त गहरी और पैनी है जिससे बचकर नायिका का कोई भी उद्दीपक अंग चित्रित हुए बिना नहीं रह सका है। फिर भी बिहारी सतसई में ऐसे दोहों की विरलता नहीं है जिनमें नायिका के दैहिक सौन्दर्य के समन्वित प्रभाव को रेखांकित किया गया है। कहीं-कहीं अनुभूति पर आधृत चित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं—

अनियारे दीरघ दृगन, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान।।

यहाँ पर इस बात का संकेत कर देना भी आवश्यक है कि यदि बिहारी की नायिकाएँ मात्र सजी-सजाई सौन्दर्यमयी गुड़िया मात्र हैं तथा उनका सप्राण व्यक्तित्त्व उनके दोहों में उजागर नहीं हो सका है तो इसमें दोष कवि का नहीं है बल्कि सामंती परंपरा से संबद्ध नारी-विषयक उस सौन्दर्य दृष्टि का है जो रीतिकालीन शृंगार से जुड़ी रही है। रीतिकालीन नायक और नायिकाएँ प्रणयानुभूति की अपेक्षा कामेच्छा एवं संभोगेच्छा की पूर्ति के लिए अँधेरी गली, सूने आवास आदि की मुखापेक्षी रही हैं क्योंकि मध्यकालीन सामाजिक जीवन की घुटन, विकृत मर्यादाओं एवं रूढ़ियों से विद्रोह कर अपने वैयक्तिक प्रणय-स्पन्दनों की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र स्थान की खोज एवं उन्मुक्त वातावरण की तलाश करने की उनमें सामर्थ्य न थी। स्वच्छन्दता एवं उन्मुक्तता की ललक लगता है बिहारी की परंपराप्रिय मानसिकता में रही ही नहीं है क्योंकि यदि होती तो वे अपने नायक-नायिकाओं के प्रणय-चित्रण में उन्हें कोई स्वतंत्र व्यक्तित्त्व दे पाते अथवा उनके प्रणय चित्रण के परिवेश को अंकित करने में मौलिक उद्भावना कर पाते। षट्ऋतु वर्णन की परम्परा के अनुगमन एवं बारहमासा के चित्रण में उद्दीपक प्रभाव की नियो-

जना ही उनका साध्य रही है। फिर भी प्रणयानुभूति की उत्पत्ति विकास तथा संयोग एवं वियोग की विभिन्न भाव-दशाओं को चित्रित करने में लोक-रीति का अनुगमन करते हुए उन्होंने कुछ आकर्षक चित्र उपस्थित किए हैं जो पर्याप्त मनमोहक हैं, जैसे—

लाज लगाम न मानहीं, नैंना मो वस नाँहि।
ए मुंह जोर तुरंग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाँहि॥

सौन्दर्याकर्षण में आवद्ध प्रेमी युगल जव स्नेह मार्ग के पथिक होकर निकलते हैं और एक दूसरे को हृदय देने के लिए आतुर होते हैं तो ऐसे समय में उन्हें सामाजिक दवाव सहना पड़ता है, लोकरीति की मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता है। पर प्रेम के आगे किसी की नहीं चलती। लाज की लगाम को आवेगमयी अश्व रूपी आँखें निरादृत कर वैठती हैं। प्रेम की मादकता मन को चंचल वना देती है। एक जगह रहने का मन नहीं करता। धैर्य का बाँध टूटने लगता है और नागर के नेह में पड़ी नागरी—

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंक न थाकति देह।
भई रहति नट को बटा, अटकी नागर नेह।
ह्याँ ते ह्वाँ तें इहाँ, धरति न नेकौ धीर।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरति, बाढ़ी गाढ़ी पीर॥

और इस बढ़ी हुई गहन प्रीति का पर्यवसान आँख मिचौनी, आलिंगन, चुम्बन आदि में होते ही ऐसी भी स्थिति आती है जब—

सकुचि सुरत आरंभ ही, बिछुरी लाज लजाइ।
ढरकि ढार ढरि ढिग गई, ढीठ ढिठाई आइ॥

मधुरतम आलिंगन और चुम्बन के प्रेम प्रसंगों की परिणति व्यथापूर्ण वियोग में होती है। विहारी सतसई में विरह अवस्था के चमत्कारिक एवं अनुभूतिप्रवण दोनों प्रकार के चित्र उपलब्ध होते हैं। शारीरिक कृशता तथा अश्रुपात आदि के वर्णन में उन्होंने अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। उदाहरण के लिए कुछ चित्र द्रष्टव्य हैं—

आड़े दै आले बसन जाड़ेहूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥
इत आवति चलि जात उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सो रहै, लगी उसासन साथ॥

कहना न होगा कि कवि के उपर्युक्त विरह-व्यथा के चित्र अनुभूति के संस्पर्श के अभाव में स्वाभाविकता एवं सहजता से पर्याप्त दूर हो गये हैं। इनमें स्वाभाविक दशा का विश्वसनीय चित्रण नहीं हो सका है। लेकिन कहीं-कहीं सहृदय संवेद्य विरह-चित्र भी उपलब्ध होते हैं—

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँख लगी रहै, आँखौ लागति नाँहि॥

वियोग प्रेमी को होता है, रसिक को नहीं। जो प्रेम करता है व्यथा की अनुभूति भी उसे ही होती है। रीतिकालीन कवियों के नायकों का नायिकाओं के प्रति एकनिष्ठ प्रेम नहीं रहा है। फलतः उनका वास्तविक वियोग भी कम ही चित्रित हो सका है। बिहारी ने नायिकाओं की विरह-व्यथा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। बिहारी के नायक वियोग से कम पीड़ित दीख पड़ते हैं। उनके जीवन का सर्वोच्च या कहें तो एकमात्र लक्ष्य तरुणियों के उन्नत उरोजों, वंकिम दृगों एवं गदराई देह पर अपने को अर्पित करना है। इस प्रकार उनका प्रणय एकांतिक है तथा जीवन के विविध संघर्षों एवं घात-प्रतिघातों के बीच उसका स्वाभाविक विकास नहीं होता। 'कुच-गिरि' से 'चिबुक गाड' तक किसी प्रकार बिहारी के नायक की दृष्टि पहुँच पाती है और यही उसके सौन्दर्य-निरीक्षण की सीमा - अधरों, होठों, त्रिवली, जंघाओं, कटि प्रदेश तथा उरोजों के अतिरिक्त भी नारी का कहीं अस्तित्व होता है इसकी जानकारी कम-से-कम बिहारी के नायकों को तो नहीं ही है। आशय यह कि रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति बिहारी का सौन्दर्य-बोध भी सीमित एवं एकांगी है। रीतिमुक्त कवियों की सौन्दर्य-चेतना की व्यापकता से वे कोसों दूर रहे हैं। बिहारी सतसई में प्रेम के व्यापक एवं स्वाभाविक रूप के दर्शन नहीं होते बल्कि

सर्वत्र व्यभिचार, कामुकता एवं सामाजिक जीवन के चारित्रिक पतन की कहानी ही कही गई है। रूढ़ियों से ग्रस्त तथा व्यक्तित्वविहीन मध्यकालीन सामंती जीवन में स्वस्थ जीवन-संघर्ष के बीच से पनपते हुए प्रणय को अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी है। बिहारी सतसई के शृंगार-चित्रण में उन्मुक्तता, स्वस्थता तथा संतुलित जीवन-दृष्टि का अभाव है और यह अभाव मध्यकालीन समाज के जीवन-दर्शन की अधोमुखता तथा प्राणहीनता का सूचक है। बिहारी सतसई में परकीया एवं स्वकीया के बड़े ही करुण एवं विवश चित्र अंकित हुए हैं तथा नायक की भ्रामरी वृत्ति का यथार्थपरक चित्रण हुआ है। बिहारी के नायक और नायिकाएँ हास-परिहास, वन विहार और मदपान में जितनी निमग्न दीख पड़ती हैं उतना जीवन के स्वस्थ संघर्ष में नहीं। शृंगार का रसराजत्व दिखाने में अन्य रसों की अपेक्षा तो रीतिकालीन काव्य में हुई है। नारी भोग्या ही नहीं होती तथा जीवन में काम-भावना के अतिरिक्त भी प्रेम और स्नेह, आस्था और विश्वास के लिए स्थान होता है, ऐसा रीतिकालीन कवि सम्भवतः सोच भी नहीं सके हैं। बिहारी सतसई में शृंगार को केन्द्रीय स्थान देने के कारण अन्य भावनाओं का निरादर भी हुआ है। उदाहरण के लिए एक प्रसंग की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है जहाँ पर बिहारी की नायिका वात्सल्य से अनुप्रेरित होकर पुत्र का मुँह नहीं चूमती बल्कि इसलिए कि उसके प्रिय ने उसके मुँह का चुम्बन किया है। आशय यह कि प्रकारान्तर से नायिका नायक के मुँह-चुम्बन की आकांक्षिणी ही अधिक दीख पड़ती है—

बिहँसि बुलाइ बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय चूम्यौ मुँह चूमि॥

इस प्रकार बिहारी ने अपनी सतसई में विभागों, अनुभावों एवं संचारी भावों के सूक्ष्म चित्र विशेष सजीवता, मार्मिकता एवं स्वाभाविकता के साथ अंकित करके उसे शृंगार की मनोहर चित्रशाला बना दिया है। नायिका के अंगों का चित्रण उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है तथा उसकी

बाँकी अदा के चित्रों से बिहारी सतसई भरी हुई है। नायिका के शरीर के अंगों की रूप छटा को अंकित करने के साथ ही शृंगारिक प्रसाधनों के वर्णन में भी उन्होंने विशेष रुचि ली है। संयोग और वियोग के वर्णन में प्रेम के अत्यधिक क्रिया-कलापों का उन्होंने मनोरम चित्र खींचा है। रस-परिपाक की दृष्टि से बिहारी सतसई का महत्त्व अप्रतिम है। अनुभावों एवं हावों के चित्र में छोटी-छोटी चेष्टाओं को भी उन्होंने कुशलता के साथ चित्रित किया है।

बिहारी सतसई में भक्ति-भावना, प्रकृति-चित्रण तथा हास्य-व्यंग के अन्य चित्र——शृंगार से श्रांत पथिक भक्ति की ओर भी लौटता है, जब यह कहा जाता है तो इसके उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवियों की ओर दृष्टि अनायास चली जाती है। रीतिकाल में शृंगारिक रचनाओं के साथ-ही-साथ भक्ति के भी अस्फुट स्वर गौण रूप में यत्र-तत्र सुनाई पड़ जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकालीन कविता के विविध वृत्तों का केन्द्र-विन्दु शृंगार ही है तथापि संस्कारों में समाई हुई सांस्कृतिक-धार्मिक चेतना भी कभी-कभी रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में प्रमुख हो जाया करती थी। यह सही है कि भक्तिकाल की भक्ति-भावना और रीतिकालीन भक्ति-भावना में स्वाभाविकता, गहराई एवं गहनता की दृष्टि से बहुत बड़ी खाई है। फिर भी इतना तो कह ही सकते हैं अल्प समय के लिए ही रीतिकालीन कवि रुचि-परिवर्तन के लिए शृंगार-सागर की डुबकियाँ लगाते-लगाते भक्ति की ओर उन्मुख हो जाया करते थे। बिहारी किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे और न तो सूर, तुलसी की भाँति भक्त ही थे। भक्ति, दर्शन तथा वैराग्य आदि विषयों पर लिखे उनके दोहे अपना कोई आकर्षण नहीं रखते बल्कि वे तो रुचि-वैचित्र्य के परिचायक मात्र हैं और कवि-परम्परा से सम्बद्ध हैं। बिहारी सतसई में भक्ति का उदार, व्यावहारिक तथा असाम्प्रदायिक रूप दृष्टिगोचर होता है। धार्मिक भावना की कट्टरता और संकीर्णता का उसमें अभाव है। बिहारी मतमतांतरों के प्रपंचों से अपने को विलग करते हुए लिखते हैं—

अपनें अपनें मत लगे वादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबही सेइबो एकै नन्दकिशोर ॥

विहारी सतसई में भक्ति से सम्बन्धित माधुर्य, सख्य, हास्य सभी भावों का चित्रण हुआ है। कहीं उनका आत्मनिवेदन एवं आत्मसमर्पण मुखरित होता हुआ दिखायी पड़ता है तो कहीं वाह्याडम्बरों के प्रति आक्रोश एवं उदासीनता भी परिलक्षित होती है—

जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा साँचै राचै रामु ॥

और कहीं-कहीं तो उस पार के प्रति इतनी अधिक आकुलता दिखाई पड़ती है कि भक्तिकालीन कवियों के समान नारी को माया-मोह समझते हुए उसके प्रति अनुदार ही हो जाते हैं—

या भव पारावार कों उलँघि पार को जाइ।
तिय छवि छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ ॥

विडम्बना तो यह है कि जिस नारी-देह की विभिन्न कमनीय छवियों ने विहारी की काव्य-चेतना को सँवारा है, उसके प्रति भी वे अनुदार हो जाते हैं और कहीं नारी के सहवास में रमकर अन्य सभी प्रकार की मुक्तियों की अवहेलना भी कर देते हैं। कहीं वे माला की पतवार और हरि नाम के जप के माध्यम से मनुष्य जाति को भवसागर पार उतरने की सलाह देते हैं तो कहीं जगत् के निर्माता हरि के विछोह से पीड़ित भी होते हैं—

जगतु जनायौ जिंहि सकलु सो हरि जान्यौ नांहि।
ज्यों आँखिनु, सब देखियै आँखि न देखी जांहि ॥

इसी प्रकार यदि वे एक स्थान पर विषय-तृषा से मुक्त होना चाहते हैं तो दूसरी ओर सुख-दुःख दोनों अवस्थाओं में प्रभु के स्मरण के लिए विकल दीख पड़ते हैं और अपने अवगुणों के लिए व्यथित होते हैं। कहीं अपनी भव-बाधा के हरण के लिए राधा नागरि के समक्ष विनत होते हैं तो कहीं 'सीस मुकुट कटि काछनी' वाले कृष्ण के समक्ष अपने को अर्पित कर देते हैं। फिर भी इन सब के बावजूद इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि राधा और

माधव का स्मरण बहाना मात्र ही है, मुख्य प्रतिपाद्य श्रृंगार ही है। डॉ० नगेन्द्र का यह कथन रीतिकालीन कवियों की भक्ति-भावना के संदर्भ में पर्याप्त वैचारिक है--"वास्तव में भक्ति भी उनकी श्रृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबड़ा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा।. . . रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है, हो ही नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसीलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।"[1]

रीतिकालीन कविता में प्रकृति कामोद्दीपन की सहयोगिनी मात्र रही है। प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रति रूढ़ि एवं परम्परा में अनुरक्त रीतिकालीन कवि कम तल्लीन रहे हैं। फिर भी कतिपय स्थलों पर प्रकृति को स्वतंत्र व्यक्तित्व देने का प्रयास भी इन कवियों के द्वारा हुआ है। मनोहारी प्रकृति-चित्रण के संदर्भ में सेनापति की काव्य-छटा की ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र अल्प मात्रा में बिहारी सतसई में भी सुलभ हो जाते हैं--

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झंपत, भौंर झौंर मधु अंध॥
कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियौ, दीरघ दाघ निदाघ॥

और कहीं-कहीं तो बिहारी सतसई में मानवीकरण के भी उदाहरण मिल जाते हैं जो कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के परिचायक हैं--

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १६५।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन-माँह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहत छाँह॥
नाहिन ए पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु विरह वसंत कै ग्रीषम लेत उसास॥

उपर्युक्त दोहों में जेठ की दुपहरी से घबड़ाकर छाया का छाया में सिमट कर त्राण माँगना तथा ग्रीष्म ऋतु का प्रिय वसंत के विरह में वियोगिनी नायिका वन जाना आदि के चित्र कवि की सौन्दर्यानुभूति के सूचक हैं। रीतिकाल के कवियों ने ऋतु वर्णन और बारहमासा के चित्रण पर विशेष बल दिया है। बारहमासा के वर्णन में बिहारी ने अन्य कवियों की भाँति क्रमबद्धता का ध्यान नहीं रखा है। विशुद्ध आलंबन से संबंधित प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र मात्रा की दृष्टि से बिहारी-सतसई में बहुत कम हैं।

शृंगार, भक्ति और प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त हास और व्यंग्य से संबंधित दोहे भी बिहारी-सतसई में पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं जिनमें जड़ तथा विकृत सामाजिक मान्यताओं एवं नैतिकता आदि पर बड़े तीखे व्यंग्य किये गये हैं। सामंती व्यवस्था की असंगतियों एवं बाह्याचारों पर बिहारी ने अपने दोहों में बड़ा चटक प्रकाश डाला है। सामंती समाज के पौराणिकों, वैद्यों एवं ज्योतिषियों के बाह्याडम्बर कवि के व्यंग्य के विषय बने हैं। उदाहरण के लिए यदि एक ओर कवि ने पर-स्त्री-गमन के दोष की व्याख्या करने वाले उपदेशक पौराणिक की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला है तो दूसरी ओर नपुंसक रोगी को पुरुषत्व प्रदान करने की औषधि देने वाले वैद्यराज की स्वयं की नपुंसकता को व्यंग्य का विषय बनाया है--

१ परतिय-दोष पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कस करि राखी मिश्रहू, मुँह आई मुसकानि॥
२ बहुधन लै, अहसान कै, पारो देत सराहि।
बैद बधू, हँसि भेद सों, रही नाह-मुँह चाहि॥

इस प्रकार उपर्युक्त दोहों में बिहारी के देखे हुए समाज में पौराणिकों की

उच्छृंखल प्रवृत्ति तथा वैद्यों की शोषण प्रवृत्ति का अत्यन्त वास्तविक चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। इसी के साथ-साथ अन्यत्र वे एक स्थल पर एक ज्योतिषी जी की मोरुता का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं--

चित पित-मारक जोग गनि, भयौ भयें सुत सोग।
फिरि हुलस्यो जिय जोयसी, समुझें जारज जोग।।

बिहारी ने सामाजिक संबंधों की अधोमुखी स्थिति का भी अपने दोहों में बड़ा जीवंत चित्रण किया है। भाई-बहन के पवित्र संबंध की रागात्मक भावना किस प्रकार उस समाज में अत्यन्त विकृत हो गयी थी, इसे निम्नांकित दोहे के अध्ययन से जाना जा सकता है---

बहकि न इहिं बहिनापने, जब तब बीर बिनास।
बचे न बड़ी सबीलहूँ, चील-घोसुवा मांस।।

बिहारी के दोहे अपने युग विशेष की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के प्रामाणिक दस्तावेज प्रतीत होते हैं। उनके काव्य में बड़े ही कौशल से व्यभिचारी कथावाचकों एवं मिथ्याचारी वैद्यों तथा अनाचार फैलाने वाले ज्योतिषियों के घिनौने एवं हास्यास्पद चित्र सजीव रूप में अंकित हुए हैं। उदाहरण के लिए कंजूस श्वसुर के आदेश से छोटी हथेली वाली सुन्दरी वधू के दान देने पर रूपरसिकों का याचक बनकर दरवाजे पर भीड़ लगा देना---हास्य रस की सरस व्यंजना करने वाला मधुर प्रसंग है---

कन देवौ सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप रहचटैं लगि लग्यौ, मांगन सबु जगु आनि।।

बिहारी अपनी उक्तियों को व्यंग्यात्मक बनाने में पर्याप्त सफल रहे हैं। व्यंग्यात्मक उक्तियों के कतिपय उदाहरण इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं---

स्वारथ, सुकृत न श्रम वृथा, देखि बिहंग विचारि।
बाज, पराए पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि।।
इहिं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैं मूल।।
ह्वैहैं फेरि बसंत ऋतु, इन डारन वै फूल।।

जब हम बिहारी सतसई का सम्यक् अध्ययन करते हैं तब हमें इस बात का

भी ज्ञान होता है कि उसमें शृंगार, भक्ति और हास्य-व्यंग्य के अतिरिक्त बिहारी के वैचारिक गांभीर्य और व्यापक पांडित्य को स्पष्ट करने वाले दोहे भी हैं। कहीं वे नीतिकार और सूक्तिकार के रूप में दिखायी पड़ते हैं तो कहीं ज्योतिष, दर्शन, गणित आदि के पंडित के रूप में। अनेक दोहों में उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों एवं विभिन्न सिद्धांतों की अभिव्यंजना को लक्ष्य बनाकर अपनी काव्य रचना की है। उदाहरण के लिए कतिपय दोहे अवलोकनीय हैं जिनमें उनके व्यापक पांडित्य एवं विभिन्न विषयों की मर्मज्ञता का स्पष्टीकरण होता है—

१ मंगल बिंदु सुरंग मुख ससि, केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचनु जगतु॥
२ कहत सबैं बेंदी दियैं, आँक दसगुनौ होत।
तिय लिलार बेंदी दियैं, अगिनित बढ़त उदोत॥
३ नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

उपर्युक्त उदाहरणों के अध्ययन से इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है कि बिहारी का जीवन-बोध व्यापक था। उनकी ज्ञान-पिपासा अत्यन्त तीव्र थी। विचारों के प्रस्तुतीकरण में उन्हें असाधारण सफलता मिली है। उनकी व्यंग्योक्तियों में पर्याप्त आकर्षण है। उनका विचार-क्षेत्र व्यापक है तथा प्रतिपादन की सभी शैलियों का उन्होंने प्रयोग किया है।

बिहारी-सतसई का विषय-विन्यास

रीतिकालीन साहित्य में बिहारी को एक निपुण मुक्तककार की संज्ञा दी जाती है। उनमें एक सफल मुक्तककार की कल्पना-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति की पूर्ण सामर्थ्य दीख पड़ती है। कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास-शक्ति की असाधारणता को आचार्य शुक्ल किसी भी सफल मुक्तककार के लिए अपेक्षित मानते थे। कहना न होगा कि यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से विद्यमान है। बिहारी सतसई की

रचना मुक्तक के रूप में हुई है और मुक्तक के लिए जो गुण अपेक्षित होते हैं वे सभी इस रचना में वर्तमान हैं। चमत्कार-सृष्टि और रस-निष्पत्ति दोनों संदर्भों में बिहारी-सतसई एक सशक्त रचना है। बिहारी ने रचना के हेतु कवित्त एवं सवैये की परिपाटी को छोड़कर दोहे जैसे लघुकाय छंद का माध्यम स्वीकार किया है। दोहे को अपनी रचना का माध्यम बनाना बिहारी की समास-शक्ति की निपुणता का ही द्योतक है। उन्होंने अपने मार्मिक भावों को संयत शब्द-चयन द्वारा एवं सुसज्जित ढंग से आकर्षक रूप में व्यक्त किया है, इसीलिए वे 'नावक के तीर' सदृश आहत करने वाले बन सके हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी दोहों में भावों को बाँधने की प्रक्रिया को अत्यन्त बुद्धिगम्य एवं निपुणतासाध्य मानते हुए लिखा है—"नट जब किसी गोल घेरे और विशेषत: जलते हुए घेरे के बीच से निकलना चाहता है, तो अपने शरीर को भलीभाँति समेट कर, शरीर को खूब तोल कर उछालता है और उसके भीतर से पार हो जाता है। ठीक इसी प्रकार दोहे में भावों और उनके व्यंजक शब्दों को खूब समेटना पड़ता है, उन्हें सामासिक रूप में लाना पड़ता है, उन्हें खूब तोल कर रखना पड़ता है।" बिहारी के दोहों में सांकेतिक अर्थों की विविधता पाई जाती है। प्रत्येक दोहे में दोहरे-तेहरे अर्थ भरे हुए हैं। सांगरूपकों के निर्वाह, पर्याय व्यापारों के समाहार और विविध चेष्टाओं के संयोजन से बिहारी के दोहे अर्थ के स्तर पर खूब कसे हुए हैं। रीति और रूढ़ि की सहायता लेकर अपने दोहों में गागर में सागर भरने का बिहारी ने स्तुत्य प्रयास किया है। भाषा की कसावट, गंभीर अर्थ-योजना आदि की दृष्टि से बिहारी सतसई अप्रतिम रचना है। बिहारी सतसई में साहित्यिक ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी प्रयोग भी सुलभ होते हैं। इसमें प्रयुक्त समास सरस एवं सुस्पष्ट हैं। कवि के बुन्देलखंड के निवासी होने के कारण बुन्देली शब्द भी इसमें पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। इनकी काव्यभाषा विचारों को कलात्मक ढंग से व्यक्त करने में सफल है तथा वह पर्याप्त चुस्त, भावानुगामिनी एवं कलात्मक है। उसमें लाक्षणिक प्रयोग एवं मुहावरेदानी बड़े

सशक्त रूप में परिलक्षित होती है। लिंग-निर्वाह में कहीं-कहीं शिथिलता के दर्शन होते हैं। आचार्य शुक्ल बिहारी की भाषा के संदर्भ में लिखते हैं—'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। व्रज के कवियों में शब्दों के तोड़-मरोड़ की आदत बहुत है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है।' बिहारी सतसई में संस्कृत शब्दों के भी खूब प्रयोग हुए हैं। अरबी-फारसी की शब्दावली के प्रयोगों की अधिकता बिहारी-सतसई में परिवेश के प्रभाव से दीख पड़ती है। उनकी भाषा-शैली में माधुर्य गुण की प्रधानता है। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपनी रचना में कोमलकांत पदावली का प्रयोग किया है। सानुनासिक सजीव शब्द-योजना, ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग, शब्द-चयन चातुरी आदि बिहारी की काव्य-भाषा की अविस्मरणीय विशेषताएँ हैं। उदाहरण के लिए शब्द-चयन की कुशलता एवं ध्वन्यात्मक शब्दों की योजना के संदर्भ में निम्नांकित दोहा द्रष्टव्य है—

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान-मधु नीरु।
मंद-मंद, आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज समीरु॥

मुहावरों एवं लोकोक्तियों के व्यवहार से बिहारी-सतसई की व्यंजनात्मकता में सम्पन्नता का सन्निवेश हुआ है। लक्षणा शक्ति पर ही मुहावरों एवं लोकोक्तियाँ आधृत होती हैं। वैषम्य चमत्कार की सृष्टि मुहावरों के प्रयोग से निम्नांकित दोहे में बड़ी ही कुशलता के साथ संभव हो सकी है—

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाँहि॥

इस प्रकार दो टूक शब्दों में कहा जा सकता है कि बिहारी-सतसई की काव्य-भाषा प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा है। वाक्य रचना की दृष्टि से कवि को अभूतपूर्व सफलता मिली है। अनूठे शब्द-चयन, वाग्वैदग्ध्य एवं समास शक्ति से समृद्ध बिहारी की काव्य-भाषा किसी भी रीतिकालीन कवि के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है।

बिहारी-सतसई चमत्कारपूर्ण अलंकृत काव्य शैली से समृद्ध है। उनके प्रत्येक दोहे में अलंकार वर्तमान है। कहीं-कहीं तो एक ही दोहे में एकाधिक अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों ही प्रकार के अलंकार प्रचुरता में बिहारी-सतसई में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकार कवि की मानसिकता के विशेष अनुरूप सिद्ध हुए हैं। इन अलंकारों के माध्यम से कवि ने विलक्षण उपमानों की योजना की है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा के प्रयोग में कवि ने विशेष उत्साह प्रदर्शित किया है। परम्परामुक्त उपमानों के माध्यम से भी बिहारी ने अपने दोहों में मौलिक उद्भावना की है। सांगरूपकों के प्रयोग में उन्हें विशेष सफलता मिली है। उदाहरण के लिए एक दोहे को अवलोकनार्थ उद्धृत किया जा सकता है जिसमें लाज की रस्सी के टूट जाने पर चित्त को भँवर की नाव के रूप में वर्णित किया गया है--

फिरि फिरि चितु उत हीं रहतु, टूटी लाज की लाव।
अंग-अंग छवि झौंर में, भयौ भौंर की नाव॥

शब्दालंकारों की योजना में बिहारी अपने समकालीन कवियों के लिए चुनौती रहे हैं। इसी को लक्ष्य करके डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं--"रीतिकाल के कवियों में शब्दालंकार के प्रयोग बहुत हैं, परन्तु अधिकतर ये काव्य के घटिया प्रभाव को उत्पन्न करके रह जाते हैं। अर्थ की बाह्य सत्ता से उनका जितना सम्बन्ध होता है, उतना रमणीयता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। बिहारी ने अर्थ की रमणीयता का ध्यान बराबर रखा है। इसीलिए उनका शब्दालंकार रसोद्रेक के सहायक होकर आते हैं।"[1] बिहारी-सतसई में उत्प्रेक्षा अलंकार के अत्यन्त कमनीय उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। उपमान-विधान की रमणीयता एवं संवेदना की दृष्टि से ऐसे स्थल सहृदय-संवेद्य बन सके हैं जिनमें चमत्कार प्रदर्शन का

---

१. हिन्दी साहित्य : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३३१।

कोई विशेष मोह नहीं रहा है। चित्रात्मकता एवं दृश्य विधान की दृष्टि से उत्प्रेक्षा पर आश्रित प्रस्तुत दोहा अत्यन्त श्लाघनीय है—

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु, स्याम, सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतपु पर्‌यौ प्रभात ॥

उपर्युक्त उद्धरण के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अतिश्योक्ति और अत्युक्ति अलंकारों की तुलना में उत्प्रेक्षा के प्रयोग में कवि-हृदय की तरलता एवं काव्यत्व विशेष रूप से मुखर हो सका है। यहाँ यह भी कह देना समीचीन होगा कि बिहारी ने अपने काव्य में उपमान विधान कहीं-कहीं स्वच्छन्दता एवं मौलिकता का भी परिचय दिया है। जहाँ तक अपनी अलंकार योजना के माध्यम से कवि ने सादृश्य एवं साधर्म्य की उपेक्षा नहीं की है वहाँ तक काव्यत्व में बाधा नहीं पड़ती लेकिन जहाँ वे चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति से ग्रस्त हो गये हैं वहीं काव्य तत्त्व बाधित होता है। अर्थान्तर-न्यास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग, दृष्टांत, विरोधाभास, असंगति आदि अलंकारों के द्वारा कवि ने अपनी वाक्‌विदग्धता का परिचय दिया है। लाक्षणिकता एवं मुहावरों के कमनीय प्रयोगों द्वारा तथा भाषा की समास शक्ति के पूर्ण वैभव का सहारा लेकर अपनी भाव व्यंजना में बिहारी अत्यत सफल रहे हैं। बिहारी-सतसई की भाषा में अनुप्रास सौन्यर्य से युक्त होने के कारण पर्याप्त रुचिर बन सकी है। इनकी भाषा में मधुरता, प्रवाहमयता एवं ध्वन्यात्मकता का कारण यही अनुप्रास योजना है। शब्दालंकारों में अनुप्रास के प्रति उनमें विशेष लगाव रहा है। इनके माध्यम से जहाँ केवल उन्होंने चमत्कार की उत्पत्ति को ही अपना लक्ष्य बना लिया है वहाँ भाव-व्यंजना बाधित भी हुई है। फिर भी इस सत्य को हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि बिहारी ने अतिशय अलंकार-प्रियता के प्रति कोई अनुराग नहीं दिखाया है। उनकी कोमलांगिनी भूषण-भार से परेशान ही दिखायी पड़ती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी की काव्य-शैली में अपने समकालीन कवियों की अपेक्षा आकर्षण और जीवंतता अधिक रही है। उन्होंने अपनी सजग और सतर्क अभिव्यक्ति में भाषा को पूरे ध्यान से

गढ़ा है। गहन व्यंजना से उनकी भाषा समर्थ-सिद्ध दिखायी पड़ती है। मुक्तककार होने के कारण उनकी काव्य-शैली में प्रभावोत्पादकता, थोड़े शब्दों में अधिक कह देने की सामर्थ्य एवं मार्मिक प्रसंगों के चयन की क्षमता विशेष रूप से दिखायी पड़ती है। अपनी सरस उक्तियों से रसोद्रेक के संदर्भ में वे जागरूक रहे हैं। उनके नीति, उपदेश, दर्शन आदि से सम्वद्ध दोहे भी उनकी रसिकता एवं काव्यमयता से सम्पृक्त हैं। अर्थगांभीर्य और अर्थ विस्तार की अद्भुत क्षमता के दर्शन उनके दोहों में होते हैं। उनके दोहे वस्तु के वर्णन एवं चित्रण में ही सफल नहीं हैं वल्कि अत्यन्त गूढ़ एवं मार्मिक भावों की व्यंजना से अभूतपूर्व हैं। अपनी वाक्-विदग्धता तथा वक्रतापूर्ण काव्य-शैली के माध्यम से जीवंत चित्र विधान एवं विविध प्रकार की क्रीड़ाओं एवं भंगिमाओं के रूपायन में वे पूरी तरह से सफल हो सके हैं। राज्याश्रय में पलने वाले विहारी को सामंती वातावरण के अनुकूल ही मुक्तक-काव्य शैली के माध्यम से अपने युग-बोध को प्रमाणित करना पड़ा है। उनके दोहों की ध्वन्यात्मकता, चमत्कृति एवं सांकेतिकता का सम्बन्ध बहुत कुछ सामंती समाज की मानसिकता से भी जोड़ा जा सकता है।

भारतीय मुक्तक परम्परा में विहारी-सतसई का अप्रतिम महत्त्व है। भारतीय दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी मुक्तक शैली का प्रयोग होता रहा है लेकिन काव्यात्मक मुक्तकों की परम्परा का सूत्रपात 'गाथा सप्तशती' से ही मानना चाहिए, जिसमें यथार्थवादी ढंग से शृंगार, नीति और हास्य आदि का प्रतिपादन हुआ है। मुक्तकों की संख्या के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति के इसमें दर्शन होते हैं। शृंगार, नीति और दर्शन के साथ ही अपभ्रंश में वीर रसात्मक मुक्तकों का भी विकास दिखायी पड़ता है। हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने भक्तिमूलक जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति मुक्तक शैली में ही की थी तथा मध्यकालीन शृंगारी कवियों ने तो इस शैली को उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इस शैली में कहीं कवित्त-सवैये आदि छन्दों का प्रयोग हुआ तो कहीं दोहों का। विहारी ने मुक्तककार के रूप में इसी दोहा छंद का व्यवहार किया है। कल्पना की

समाहार शक्ति, सामासिकता, व्यंग्य प्रयोग, प्रसंगों एवं भावनाओं के आकर्षक चुनाव के साथ ही सजीव शैली, कोमल, सरस और प्रवाहमयी ध्वन्यात्मक शब्द-योजना से युक्त भाषा-शैली के माध्यम से बिहारी के मुक्तक अपने उत्कर्ष को प्राप्त कर सके हैं। व्यंजना-वैभव एवं प्रभावोत्पादक व्यंग्योक्तियों के कारण बिहारी के दोहों में वँधने की पर्याप्त सामर्थ्य दीख पड़ती है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि बिहारी-सतसई सर्वथा दोष विहीन है। कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की सामासिकता के कारण प्रसंग और अर्थव्यंजना में क्लिष्ट कल्पना भी अपेक्षित होती है। बुद्धि व्यायाम की भी अपेक्षा अधिकांश स्थलों पर कवि की चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण करनी पड़ती है। आचार्य शुक्ल ने बिहारी के काव्य की इस दुरूहता को लक्ष्य करते हुए लिखा भी है—"बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए..। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता।...मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।" बातें सही भी हैं। यदि हम घनानंद की कविता की गहन प्रणयानुभूति, देव की भावव्यंजना और पद्माकर की सरस काव्यमयता का अनुसंधान बिहारी के काव्य में करना चाहें तो हमें हाथ ही मलना पड़ेगा। फिर भी रूप विधान की सजीवता, मार्मिक उक्ति चमत्कार और सम्प्रेषण-कौशल आदि के कारण बिहारी-सतसई का एक अपना अलग आकर्षण है। ज्ञान-प्रदर्शन, शब्द-क्रीड़ा एवं शास्त्रीय लक्षणों की पूर्ति आदि के कारण काव्यत्व से बाधा भी पड़ी है, फिर भी देह-छवियों की मादक चित्रात्मकता, हाव-भावों की आकर्षक मुद्राओं के अंकन से समृद्ध होने के कारण बिहारी-सतसई आज भी सहृदय पाठक को तन्मय कर देती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विहारी एक चमत्कार-प्रिय प्रवुद्ध कलाकार थे। सामंती प्रवृत्ति के कवि विहारी ने ससुराल में रहकर अपनी पत्नी के सौन्दर्य को नाना रूपों में देखा था। सामंती समाज की नागरिकाओं के गुणगत वैशिष्ट्य से वे पूर्ण परिचित थे। विविध प्रदेशों की सुन्दरियों की शृंगारमूलक मानसिकता से वे परिचित थे। उनका प्रेम निरूपण तथा सौन्दर्य-चित्रण अधिकांश स्थलों पर शास्त्रीय मान्यताओं के साँचे में ढला हुआ है। दैहिक छवियों की तुलना में मानस-छवि के चित्रण विहारी-सतसई में कम हैं और यह युग विशेष की विचारधारा और मनोभूमि का प्रतिफलन कहा जा सकता है। शारीरिक शोभा के प्रति कवि में विशेष अनुराग परिलक्षित होता है। प्रेम-मार्ग की वक्रता और उसके बुद्धि-विशिष्ट रूप से ही विहारी सम्पृक्त रहे हैं। दूती एवं सखी को वीच में डालकर प्रेम का संग्राम उन्होंने अधिक खड़ा किया है। वियोग-व्यथा के चित्र विहारी-सतसई में अनुभूतिमूलक न होकर अनुमानाश्रित ही अधिक हैं। माघ की वे लूएँ जो सृष्टि को झुलसाती हैं, जाड़े की वे रातें जिनमें सखियाँ विरहाकुल सखी को देखने के लिए गीले वस्त्र पहनकर जाती हैं, वे मान के उच्छ्वास जिनसे सरिताएँ सूख जाती हैं और मौत को चश्मा लगाकर आना पड़ता है—आदि के चित्र वहुलता में विहारी-काव्य में सुलभ हैं। विहारी ने भाव निरूपण एवं उक्ति वैचित्र्य दोनों के सन्दर्भ में अपने अनुराग का परिचय दिया है। संयोगकालीन सुखात्मक वृत्तियों के उद्घाटन में उनका मन विशेष रमा है और दुःखात्मक वृत्तियों की व्यंजना से वे भरसक वचते से रहे हैं। इसका कारण यह है कि प्रेम के आत्मिक स्तर और आत्मिक सौन्दर्य की अपेक्षा प्रेम के दैहिक स्वरूप के अनुकूल ही उनकी मनोभूमि का विकास हुआ है। इसीलिए उनके यहाँ प्रेम-चौगान की क्रीड़ा चलती है जिसमें अनेक प्रकार के दाँवपेंच और षड्यंत्र की आवश्यकता होती है। विहारी के प्रेम में सहज आवेग नहीं है वल्कि चातुर्य है। कारण यह कि वे रसिक अधिक प्रेमी कम थे। प्रेमी की महत्ता से वे परिचित थे लेकिन उसकी अनुभूति उनमें नहीं है। उन्होंने तो सामंती समाज की काम-

लीलाओं के नग्न चित्र खींचे हैं। नायिकाओं के मांसल एवं मधुर चित्र उरेहे हैं। हावों-भावों एवं अनुभावों की मधुर योजना की है। वाग्-वैदग्ध्य एवं चमत्कारप्रियता प्रदर्शित की है। जीवन के गम्भीर, मार्मिक एवं शाश्वत प्रश्नों को उठाने से वे कतराते रहे हैं। नारी-शरीर के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सौन्दर्य के विहारी गहन पारखी रहे हैं। रीतियुगीन अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों के साथ ही विहारी के सौन्दर्यबोध की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"विहारी में सौन्दर्य के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शब्दबद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता है, वैसी देव अथवा रीति युग के किसी भी कवि में नहीं है—परन्तु सौन्दर्य में पूर्णतः रसमग्न होने की क्षमता देव में उनसे कहीं अधिक है। समग्र रूप से विचार करते हुए देव के काव्य की आत्मा विहारी के काव्य की आत्मा से अधिक समृद्ध है। काव्य-शिल्प की दृष्टि से दोनों पक्ष समान रूप से प्रबल हैं—यद्यपि यहाँ भी टेकनीक दोनों की सर्वथा भिन्न है। देव की अपेक्षा बिहारी की कला अधिक सचेष्ट है—उन्होंने कला का माध्यम भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म ही चुना है। संभवतः उनके शिल्प का मुख्य गुण है जड़ाव। इसके विपरीत देव के शिल्प में कोमल सामंजस्य अधिक है। विहारी की भाषा देव की भाषा से अधिक प्रौढ़ है। उसकी लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्ति अत्यन्त विकसित तथा समासगुण अद्भुत है। उधर देव की भाषा में झंकृति, संगीत और ओजस्व अधिक है। अतएव शिल्पी के रूप में दोनों के सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है।"[1] विहारी के काव्य की विशेषता उनके संवेदनापूर्ण मांसल चित्रों एवं ऐन्द्रिय बोध में है। सामंती रुचि के आभिजात्य से सजी-सँवरी मानसिकता से निर्मित विहारी का व्यक्तित्व अपनी रचना-प्रक्रिया में अन्य रीतिकालीन कवियों की तुलना में निर्लेप, तटस्थ और काव्य-साधना में अत्यधिक सजग रहा है। यह सच है कि

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृष्ठ २६८।

उनके नागरिक मन ने बाह्य परिवेश के वैभव एवं परिष्कृति पर इतना अधिक जोर दिया है कि अंतर्तम में छिपे असंख्य भावकोष अनुद्घाटित ही रह गये हैं फिर भी अपनी अनूठी शब्दावली से नारी-शरीर की विविध चेष्टाओं एवं हाव-भावों के चित्रण के वे अत्यन्त सचेत शिल्पी कहे जा सकते हैं। रस-नायिका भेद एवं अलंकार शास्त्र की दृष्टि से रीतिशास्त्र के पण्डित बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहों में उनके लोकानुभव की गहनता के दर्शन होते हैं और इनके माध्यम से वे कुशल शिल्पी के साथ ही अपने देखे हुए समाज के प्रतिनिधि साहित्यकार माने जाते हैं। शृंगार-रस के ग्रंथों में सर्वाधिक मान बिहारी-सतसई का हुआ है और कहते तो यहाँ तक हैं कि 'रामचरितमानस' के बाद इस काव्य पर सर्वाधिक टीकाएँ भी लिखी गईं। अर्थगाम्भीर्य, भाषा सौष्ठव, सूक्ष्म-दर्शिता एवं बहुज्ञता की दृष्टि से निश्चित ही बिहारी-सतसई अप्रतिम महत्त्व की रचना है।

बिहारी-सतसई

(मूलपाठ)

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परें स्याम हरित दुति होय ॥१॥
अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥२॥
अजौं तरौना ही रह्यौ स्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लह्यौ बसि मुकतन के संग ॥३॥
अजौं न आए सहज रँग विरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयत ललन चलन की बात ॥४॥
अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय ॥५॥
अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान ॥६॥
अपने अंग के जानिकै जोबन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितंब कों बड़ो इजाफा कीन ॥७॥
अर तें टरत न बर परे दई मरक मनु मैन।
होड़ा-होड़ी बढ़ि चले चित चतुराई नैन ॥८॥
अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँग रँग सो मनौ चपि बिछुवन के भार ॥९॥

अहे दहेंड़ी जिन धरै जिन तूं लेहि उतारि।
नीकें है छीकें छुवै ऐसें ही रहि नारि ॥१०॥
इक भीजे चहले परे बूड़े बहे हजार।
किते न औगुन जग करे नै वै चढ़ती बार ॥११॥
इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिडोरें सी रहै लगी उसासनि हाथ ॥१२॥
इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरजोई नाँहि।
देखत बनै न देखतै अनदेखे अकुलाँहि ॥१३॥
उड़ति गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ॥१४॥
उनको हित उनही बनै कोऊ करौ अनेक।
फिरत काक-गोलक भयौ दुहूँ देह ज्यौं एक ॥१५॥
उर मानिक की उरबसी डटत घटत दृग दाग।
छलकत बाहिर भरि मनौ तिय हिय को अनुराग ॥१६॥
औंधाई सीसी सु लखि विरह बरनि बिलखात।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छीटौ छुई न गात ॥१७॥
कंजनयनि-मंजन किये बैठी ब्यौरति बार।
कच अँगुरिन बिच डीठि दै चितवति नंदकुमार ॥१८॥
कत लपटैयत मो गरें सो न जुही निसि सैन।
जिहि चंपक बरनी किये गुल्लाला रंग नैन ॥१९॥
कन दैवो सौंप्यौ ससुर बहू थुरहथी जानि।
रूप रहचटें लगि लग्यौ मांगन सब जग आन ॥२०॥
कब की ध्यान लगी लखौं यह घर लगिहै काहि।
डरियत भृङ्गी कीट लौं जिन वहई ह्वै जाहि ॥२१॥

कर मुँदरी की आरसी प्रतबिंबित प्यौ पाय।
पीठ दियें निधरक लखै इकटक डीठि लगाय ॥२२॥
कर लै चूमि चढ़ाय सिर उर लगाय भुज भेटि।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति धरति समेटि ॥२३॥
कर समेटि कच भुज उलटि खएँ सीसपट टारि।
काको मन बाँधै न यह जूरो बाँधनिहारि ॥२४॥
करो विरह ऐसो तऊ गैल न छाड़त नीचु।
दीनेहूँ चसमा चखनि चाहै लहै न मीचु ॥२५॥
कहत नटत रीझत खिझत मिलत लिखत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननि ही सों बात ॥२६॥
कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार ढिग सुक लौं सूकति जाति ॥२७॥
कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियौ दीरघ दाघ निदाघ ॥२८॥
कहा भयौ जौ बीछुरे मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाति कितहूँ गुड़ी तऊ उड़ायक हाथ ॥२९॥
कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेस लजात।
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात ॥३०॥
किती न गोकुल कुलबधू काहि न किहिं सिख दीन।
कौनें तजी न कुलगली ह्वै मुरली सुर लीन ॥३१॥
कुंज-भवन तजि भवन कों चलियै नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर ॥३२॥
कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली डीठि मुँह चाड़।
फिर न टरी परियै रही परी चिबुक की गाड़ ॥३३॥

कोऊ कोरिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा बिपति बिदारनहार ॥३४॥
को छूट्यौ इहिं जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत त्यौं त्यौं उरझत जात ॥३५॥
कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखबी मुरारि।
बीधे मोसों आनिकै गीधे गीधहि तारि ॥३६॥
कौन सुनै कासों कहौं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौ लेत हैं ये बदरा बदराह ॥३७॥
क्यौं बसियै क्यौं निबहियै नीति नेह पुर नाहिं।
लगालगी लोयन करैं नाहक मन बंधि जाहिं ॥३८॥
खलित बचन अधखुलित दृग ललित स्वेद कन जोति।
अरुन बदन छवि मद छकी खरी छबीली होति ॥३९॥
खेलत सिखए अलि भलें चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन मृग नागर नरनि सिकार ॥४०॥
खौरि-पनिच भृकुटी-धनुष बधिक-समर तजि कानि।
हनत तरुन-मृत तिलक-सर सुरक-भाल भरि तानि ॥४१॥
गढ़-रचना बरुनी अलक चितवनि भौंह कमान।
आघु बँकाई ही बढ़ै तरनि तुरंगम तान ॥४२॥
गहकि गाँस औरै गहे रहे अधकहे बैन।
देखि खिसौंहैं पियनयन किये रिसौंहैं नैन ॥४३॥
गहै न नेकौ गुन गरब हँसौ सकल संसार।
कुच उचपद लालच रहै गरें परेहूँ हार ॥४४॥
गिरि तें ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन कौं प्रेम पयोधि पगार ॥४५॥

गोरी गदकारी परै हँसत कपोलनि गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़॥४६॥
गोरी छिगुनी नख अरुन छला स्याम छबि देय।
लहति मुकुति-रति पलक यह नैन त्रिबेनी सेय॥४७॥
घन घेरा छुटिगौ हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियौ सुचैनो आय जग सरद सूर नरनाह॥४८॥
घाम घरीक निवारियै कलित ललित अलि पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु मिलित मालती कुंज॥४९॥
चमक तमक हाँसी सिसक मसक झपट लपटानि।
ये जिहिं रति सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥५०॥
चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता-विमल-जल उछरत जुग मीन॥५१॥
चलन न पावत निगम-मग जग उपजी अति त्रास।
कुच उतंग गिरिवर गह्यौ मीना-मैन मवास॥५२॥
चित पित-मारक जोग गुनि भयौ भएँ सुत सोग।
फिरि हुलस्यौ जिय जोयसी समुझें जारज-जोग॥५३॥
चितवनि रूखे दृगन की बिन हाँसी मुसकानि।
मान जनायौ मानिनी जानि लियौ पिय जानि॥५४॥
छिनक उघारति छिन छुवति राखत छिनक छिपाय।
सब दिन पिय खंडित अधर दरपन देखत जाय॥५५॥
छिनक चलति ठठकति छिनक भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा बिज्जु-छटा सी नारि॥५६॥
छिप्यौ छबीलो मुख लसै नीले अंचल चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर॥५७॥

छुटन न पैयत छिन वसें प्रेमनगर यह चाल।
मार्यौ फिरि फिरि मारियै खूनी फिरै खुस्याल ॥५८॥
छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ जोबन अंग।
दीपति देह दुहूनि मिलि दिपति ताफता रंग ॥५९॥
छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥६०॥
जंघ जुगल लोयन निरे करे मनौ विधि मैन।
केलि तरुन दुख दैन ये केलि तरुन सुख दैन ॥६१॥
जगत जनायौ जिहिं सकल सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिन सब देखियै आँखि न देखी जाहिं ॥६२॥
जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाहिं।
आँखिन आँखि लगी रहैं आँखौ लागति नाहिं ॥६३॥
जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कँटीली डार ॥६४॥
जुवति जोन्ह में मिलि गई नैक न होति लखाय।
सोंधे के डोरनि लगी अली चली सँग जाय ॥६५॥
जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन ॥६६॥
जौ चाहै चटक न घटै मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइयै नेह चीकनों चित्त ॥६७॥
ज्यौं ज्यौं बढ़ति विभावरी त्यौं त्यौं बढ़त अनंत।
ओक ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमंत ॥६८॥
डारे ठोढ़ी गाड़ गहि नैन बटोही मारि।
चिलक-चौंध में रूप-ठग हाँसी-फाँसी डारि ॥६९॥

तंत्रीनाद कवित्तरस सरस राग रतिरंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग ॥७०॥

तर झुरसी ऊपर गरी कज्जल जल छिरकाय।
पिय पाती बिनहीं लिखी बाँची बिरह-बलाय ॥७१॥

तिय कित कमनैता पढ़ी विनु जिह भौंह-कमान।
चलचित-बेझो चुकति नहिं बंक-बिलोकनि बान ॥७२॥

थोरेहों गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए आज-काल्हि के दानि ॥७३॥

दुसह दुराज प्रजान को क्यों न बढ़ै दुख-दंद।
अधिक अँधेरो जग करैं मिलि मावस रबि-चंद ॥७४॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही चंग-रंग गोपाल ॥७५॥

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियें दई नई यह रीति ॥७६॥

नभलाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रतिपाली आली अनत आए बनमाली न ॥७७॥

नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होय ॥७८॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगें कौन हवाल ॥७९॥

नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंह।
काँटै सी कसकति हियें वहै कँटीली भौंह ॥८०॥

नित संसौ हंसौ बचत मनौ सु इहिं अनुमान।
बिरह-अगिनि-लपटनि सकत झपटि न मीचु सिचान ॥८१॥

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरद बारक बारन तारि ॥८२॥
नेह न नैनन कौं कछू उपजी बड़ी बलाय।
नीर-भरे नितप्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय ॥८३॥
पत्राहीं तिथि पाइयत वा घर कें चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ॥८४॥
परतिय-दोष पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कस करि राखी मिश्रहू मुँह आई मुसकानि ॥८५॥
पलनि पीक अंजन अधर धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी भले बने हौ लाल ॥८६॥
पावस घन अँधियार में रह्यौ भेद नहिं आन।
राति-द्यौस जान्यौ परत लखि चकई चकवान ॥८७॥
फिरि फिरि चित उत ही रहत टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छबि-झौंर में भयौ भौंर की नाव ॥८८॥
बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाय ॥८९॥
बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें हरि नीके ये नैन ॥९०॥
बरन बास सुकुमारता सब बिधि रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की गाल न जानी जाय ॥९१॥
बसै बुराई जासु तन ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़ियै खोटें ग्रह जपदान ॥९२॥
भूषन-भार सँभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाय न धर परत सोभा ही कें भार ॥९३॥

भौंह ऊँचे आँचर उलटि मौर मोरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई डीठि डीठि सों जोरि ॥९४॥
मंगल बिंदु सुरंग मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग रसमय किय लोचन जगत ॥९५॥
मिलि चंदन बेंदी रही गोरें मुख न लखाय।
ज्यौं ज्यौं मदलाली चढ़ै त्यौं त्यौं उघरति जाय ॥९६॥
मैं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियै जहाँ ॥९७॥
मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज ॥९८॥
मोहूँ दीजै मोष जो अनेक पतितन दियौ।
जौ बाँधेहीं तोष तौ बाँधौ अपने गुननि ॥९९॥
या भव-पारावार कों उलँघि पार को जाय।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी गहै बीचहीं आय ॥१००॥
रनित-भृंग-घंटावली झरित-दान-मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर-कुंज-समीर ॥१०१॥
लाज गहौ बेकाज कत घेरि रहे घर जाहिं।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिं ॥१०२॥
लाज-लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ये मुहजोर तुरंग लौं ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥१०३॥
सनि कज्जल चख-झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेह।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह ॥१०४॥
समै समै सुंदर सबै रूप-कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय ॥१०५॥

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
इहिं बानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल॥१०६॥
सोहत ओढ़ें पीत पट स्याम सलोनें गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतप पर्‌यौ प्रभात॥१०७॥
स्वारथ सुकृत न श्रम बृथा देखि बिहंग बिचारि।
बाज पराएँ पानि परि तूँ पच्छीन न मारि॥१०८॥
हेरि हिँडोरें गगन तें परी परी-सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच हीं करी खरी रसलूटि॥१०९॥
बहकि न इहिं बहिनापने जब-तब बीर बिनास।
बचै न बड़ी सबीलहूँ चील्ह-घोंसुवा माँस॥११०॥
बहु धन लै अहसान कै पारो देत सराहि।
बेद-बधू हँसि भेद सों रही नाह-मुँह चाहि॥१११॥
बिछुरें जिये सँकोच यह बोलत बनै न बैन।
दोऊ दौरि लगे हियें कियें निचौहें नैन॥११२॥
बिनती रति बिपरीति की करी परसि पिय पाय।
हँसि अनबोले हीं दियौ ऊतर दियौ बताय॥११३॥
बिय सौतिन देखत दई अपने हिय तें लाल।
फिरत सबन में डहडही उहैं मरगजी माल॥११४॥
बिरह-बिथा-जल-परस बिन बसियत मो हिय-ताल।
कछु जानत जलथंभ-बिधि दुरजोधन लौं लाल॥११५॥
बिहँसति सकुचति सी हियें कुच-आँचर-बिच बाँहि।
भीजें पट तट कों चली न्हाय सरोवर माँहि॥११६॥
बिहँसि बुलाय बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को पिय-चूम्यौ मुँह चूमि॥११७॥

वेसरि-मोती धनि तुहीं को पूछै कुल-जाति।
पीवो करि तिय-अधर को रस निधरक दिन-राति ॥११८॥
भई जु तन-छवि बसन मिलि बरनि सकै सु न बैन।
आँग-ओप आँगी दुरी आँगी आँग दुरै न॥११९॥
भए बटाऊ नेह तजि वादि बकति बेकाज।
अब अलि देत उराहनो उर उपजति अति लाज॥१२०॥
मरी डरी कि टरी बिथा कहा खरी चलि चाहि।
रही कराहि-कराहि अति अब मुँह आहि न आहि ॥१२१॥
मान करत बरजति न हौं उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौंही जायँगी सहज हँसौहीं भौंह॥१२२॥
मान तमासो करि रही बिवस वारुनी सेइ।
झुकतिहँसतिहँसिहँसिझुकतिझुकिझुकिहँसिहँसिदेइ॥१२३॥
मानहु मुँह-दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग।
सास सदन मन ललनहूँ सौतिन दियौ सुहाग॥१२४॥
मार सुमार करी खरी मरी मरीहि न मारि।
सींचि गुलाब घरी घरी अरी बरीहि न बारि॥१२५॥
मार्‌यौ मनुहारिन भरी गार्‌यौ खरी मिठाहिं।
वाको अति अनखाहटौ मुसक्याहट बिन नाहिं॥१२६॥
मिलि मिलि चलि मिलि मिलि चलत आँगन अथयौ भानु।
भयौ महूरत भोर कें पौरिहि प्रथम मिलानु॥१२७॥
मिलि परिछाँही जोन्ह सों रहे दुहुन के गात।
हरि-राधा इक संग हीं चले गली में जात॥१२८॥
मुँह उघारि प्यौ लखि रह्यौ रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फरके ओठ उठे पुलक गए उघरि जुरि नैन॥१२९॥

मुँह धोवति एँड़ी घसति हसति अनगवति तीर।
धसति न इंदीवरनयनि कालिंदी के नीर ॥१३०॥
मुँह पखारि मुँडहर भिजै सीस-सजल कर छ्वाय।
मौर उँचै घूँटेन नै नारि सरोवर न्हाय ॥१३१॥
मृगनैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल।
बिनहीं पिय-आगम उमगि पलटन लगी दुकूल ॥१३२॥
मेरें बूझत बात तूँ कत बहरावति बाल।
जग जानी विपरीत-रति लखि बिंदुली पिय-भाल ॥१३३॥
मैं तपाय त्रय ताप सों राख्यौ हियो-हमाम।
मति कबहूँ आएँ यहाँ पुलकि पसीजै स्याम ॥१३४॥
मैं तोसों कैबा कह्यौ तूँ जिन इन्हैं पत्याय।
लगालगी करि लोयननि उर में लाई लाय ॥१३५॥
मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाय।
हँस्यौ खिस्यानी गर गह्यौ रही गरें लपटाय ॥१३६॥
मैं लखि नारी-ज्ञान करि राख्यौ निरधार यह।
वहई रोग-निदान वहै बैद औषधि वहै ॥१३७॥
मोहिं भरोसो रीझिहैं उझकि झाँकि इक बार।
रूप रिझावनहार वह ये नैना रिझवार ॥१३८॥
यह बरिया नहिं और की तूं करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जिन कीने पार पयोधि ॥१३९॥
रँगराती राते हियें प्रीतम लिखी बनाय।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय ॥१४०॥
रँगी सुरत-रँग पिय-हियें लगी जगी सब राति।
पैंड पैंड पै ठटुकि कै ऐंडभरी ऐंडाति ॥१४१॥

रमन कह्यौ हठि रमनि सों रति-विपरीत-बिलास।
चितई करि लोचन सतर सलज सरोष सहास ॥१४२॥
रही दहेंडी ढिग धरी भरी मथनिया बारि।
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवनिहारि ॥१४३॥
रही पैंज कीन्ही जु मैं दीन्हीं तुम्हैं मिलाय।
राखौ चंपकमाल ज्यौं लाल गरें लपटाय ॥१४४॥
रही लटू ह्वै लाल हौं लखि वह बाल अनूप।
कितो मिठास दयौ दई इतें सलोनें रूप ॥१४५॥
रहौ गुही बेनी लख्यौ गुहिबे को त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाए बार ॥१४६॥
राधा हरि हरि राधिका बनि आए संकेत।
दंपति रति-बिपरीत-सुख सहज सुरत हूँ लेत ॥१४७॥
रुख रूखी मिस-रोष मुख कहति रुखौंहैं बैन।
रूखे कैसें होत ये नेह-चीकने नैन ॥१४८॥
रूप-सुधा-आसव छक्यौ आसव पियत बनै न।
प्यालें आठ प्रियाबदन रह्यौ लगाएँ नैन ॥१४९॥
लखि गुरुजन बिच कमल सों सीस छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियें लगाई बाम ॥१५०॥
लखि लखि अँखियन अधखुलिन आँग मोरि अँगराय।
आधिक उठि लेटति लटकि आलस-भरी जम्हाय ॥१५१॥
लखि लोयन लोयनन को को इन होइ न आज।
कौन गरीब निवाजिबो कित तूठ्यौ रतिराज ॥१५२॥
लगी अनलगी-सी जु बिधि करी खरी कटि छीन।
किये मनौ वाही कसर कुच नितंब अति पीन ॥१५३॥

लरिका लैवे के मिसनि लंगर मो ढिग आय।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाय ॥१५४॥
ललन अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाति।
आज काल्हि में देखियत उर उकसौंहीं भाँति ॥१५५॥
ललन चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आय।
भई लखाय न सखिन हूँ झूठें ही जमुहाय ॥१५६॥
ललन सलोने अरु रहे अति सनेह सों पागि।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि ॥१५७॥
लसत सेत सारी ढक्यौ तरल तरौना कान।
परयौ मनौ सुरसरि-सलिल रवि-प्रतिबिंब विहान ॥१५८॥
लहलहाति तन तरुनई चलि लगि लौं लफि जाय।
लगें लंक लोयन भरी लोयन लेति लगाय ॥१५९॥
लाज गरब आलस उमँग भरे नैन मुसुक्यात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात ॥१६०॥
लै चुभकी चलि जात जित-जित जलकेलि-अधीर।
कीजत केसर-नीर से तित-तित के सर नीर ॥१६१॥
वाहि लखें लोयन लगै कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह सी होति ॥१६२॥
वाही निसि तें ना मिट्यौ मान कलह को मूल।
भले पधारे पाहुने ह्वै गुड़हर को फूल ॥१६३॥
वे न इहाँ नागर बड़े जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई गाँव गुलाब ॥१६४॥
संगति-दोष लगै सबैं कहे जु साँचे बैन।
कुटिल बंक भ्रू-संग तें भए कुटिल गति नैन ॥१६२॥

सकुचि न रहियै स्याम सुनि ये सतरौंहें बैन।
देत रचौंहैं चित कहे नेह-नचौंहैं नैन ॥१६६॥
सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलकि कछुक तन तोरि।
कर-आँचर की ओट करि जमुहानी मुँह मोरि ॥१६७॥
सकुचि सुरत आरंभ ही बिछुरी लाज लजाय।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठ ढिठाई आय ॥१६८॥
सकै सताय न बिरह-तम निसि-दिन सरस सनेह।
रहै वहै लागी दृगनि दीपसिखा सी-देह ॥१६९॥
सखि सोहति गोपाल कें उर गुंजन की माल।
बाहिर लसति मनौ पिये दावानल की ज्वाल ॥१७०॥
सघन कुंज घन घन तिमिर अधिक अँधेरी रात।
तऊ न दुरिहै स्याम यह दीपसिखा-सी जात ॥१७१॥
सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर ॥१७२॥
सबै हँसत करतारि दै नागरता के नाँव।
गयौ गरब गुन को सरब बसत गँवारे गाँव ॥१७३॥
समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराय।
फिरिफिरिउझकतिफिरिदुरतिदुरिदुरिउझकतिजाय ॥१७४॥
समै पलटि पलटै प्रकृति को न तजै निज चाल।
भौ अकरुन करुनाकरौ इहिं कपूत कलिकाल ॥१७५॥
सहज सचिक्कन स्याम रुचि सुचि सुगंध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि बिथुरे सुथरे बार ॥१७६॥
सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति ॥१७७॥

सही रँगीलें रति जगें जगी पगी सुख चैन।
अलसौहैं सौंहैं किये कहैं हँसौहैं नैन ॥१७८॥

सालति है नटसाल-सी क्यौंहूँ निकसति नाहिं।
मनमथ-नेजा-नोक-सी खुभी खुभी मन माहिं ॥१७९॥

सीरे जतननि सिसिर-रितु सहि बिरहिनि तन-ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिननि पर्‌यौ परोसिन पाप ॥१८०॥

सुख सों बीती सब निसा मनु सोए मिलि साथ।
मूका मेलि गहे जु छिन हाथ न छोड़े हाथ ॥१८१॥

सुघर-सौति-बस पिय सुनत दुलहिन दुगुन हुलास।
लखी सखी-तन डीठि करि सगरब सजल सहास ॥१८२॥

सुदुति दुराई दुरति नहिं प्रगट करति रति-रूप।
छुटें पीक औरै उठी लाली ओठ अनूप ॥१८३॥

सुनि पग-धुनि चितई इतै न्हात दिएँई पीठि।
चकी झुकी सकुची डरी हँसी लजीली डीठि ॥१८४॥

सुरँग महावर सौति-पग निरखि रही अनखाय।
पिय-अँगुरिन लाली लखें खरी उठी लगि लाय ॥१८५॥

सुरति न तालँरु तान की उठ्‌यौ न सुर ठहराय।
एरी राग बिगारि गौ बैरी बोल सुनाय ॥१८६॥

सोनजुही-सी जगमगै अँग-अँग जोबन-जोति।
सुरँग कुसुंभी चूनरी दुरँग देह दुति होति ॥१८७॥

सोवत जागत सुपन-बस रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्यामघन की सु रति बिसरैंहूँ बिसरै न ॥१८८॥

सोवत लखि मन मान धरि ढिग सोयौ प्यौ आय।
रही सुपन की मिलन मिलि तिय हिय सों लपटाय ॥१८९॥

सोवत सुपनें स्यामधन हिलि मिलि हरत बियोग।
तबहीं टरि कितहूँ गई नींदौ नींदन जोग ॥१९०॥
सोहत संग समान सों यहै कहै सब लोग।
पान-पीक ओठनि बनै काजर नैननि जोग ॥१९१॥
स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर।
अँसुवनि करति तरौंस को खिनक खरौंहौं नीर ॥१९२॥
स्वेद सलिल रोमांच-कुस गहि दुलही अरु नाथ।
हियौ दियौ सँग हाथ के हथलेवा ही हाथ ॥१९३॥
हँसि ओठन बिच कर उचै कियें निचौंहै नैन।
खरें अरें प्रिय कें प्रिया लगी बिरी मुख दैन ॥१९४॥
हँसि हँसाय उर लाय उठि कहि न रुखौंहैं बैन।
जकित-थकित ह्वै तकि रहे तकत तिलौंछे नैन ॥१९५॥
हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन ललकि ललकि लपटाति ॥१९६॥
हम हारीं कै कै हहा पायनि पार्‌यौ प्यौरु।
लेहु कहा अजहूँ किये तेह तरेर्‌यौ त्यौरु ॥१९७॥
हरि हरि! बरि बरि उठति है करि करि थकी उपाय।
वाको जुर बलि बैद जू तो रस जाय तो जाय ॥१९८॥
हाहा बदन उघारि दृग सफल करैं सब कोय।
रोज सरोजन कें परै हँसी ससी की होय ॥१९९॥
है हिय रहति हई छई नई जुगति जग जोय।
दीठिहि दीठि लगै दई देह दूबरी होय ॥२००॥

परिशिष्ट

(शब्दार्थ)

(१) झाईं=छाया। स्याम=श्रीकृष्ण; नीला। हरित=हरा। (२) अछेह्=निरंतर। (३) तरौना=कान का एक आभूषण। स्रुति=कान; वेद। नाक=नासिका; स्वर्ग। वेसर=नाक का गहना; खच्चर। (५) औथरो=छिछला। बाय=बावड़ी। (६) अनियारे=कोरदार, तीखे। (७) इजाफा=वृद्धि। (८) अर=अड़, हठ। वर=बल। मरक=बढ़ावा। मैन=मदन, काम। (९) सुरंग=महावर का रंग। (१०) जिन=मत। (११) चहले=कीचड़ में पड़े। नै=नदी। बै=उम्र। (१४) लाल=ललन। (१५) हित=प्रेम। काकगोलक=कौए की आँखों की पुतली। जो परंपरा से एक ही मानी जाती है। ज्यौ=जीव। (१६) मानिक=माणिक, लाल। उरवसी=पदिक। डटत=ठहरते हुए। दाग=दाह। (१७) बरनि=जलन। (१८) मंजन=स्नान। ब्यौरति=सुलझाती है। (१५) सैन=शय्या पर। गुल्लाला=एक लाल फूल। (२०) कन=कण, अन्न। थुरहथी=छोटे हाथ की। रहचटे=लोभ से। (२२) प्यौ=पति। (२३) लखति=लिखी। (२४) खएँ=भुजमूल पर। (२५) मीचु=मृत्यु। (२६) नटत=अस्वीकार करते हैं। खिझत=प्रसन्न होते हैं। (२७) कुवत=बुरी बात, छोटापन। पंजर=पिंजड़ा। मंजार ढिग=बिल्ली के पास। सुक=सुग्गे की भाँति। (२८) कहलाने=व्याकुल। एकत=एकत्र। दाग=ताप। निदाघ=ग्रीष्म। (३३) चाड़=लालच। (३६) बिरद यश। देखबी=देखूँगा। बीधे=उलझे। गीधे=परच गए। (३३) सुरति=स्मृति। नाह नाथ। बदाबदी=बद कर। बदराह कुमार्गी। (३८) लगा-

लगी=लगाव। नाहक = व्यर्थ। (३९) खलित=स्खलित। (४०) भलें=भलीभाँति। मार=कामदेव। (४१) खौरि=तिलक। पनिच= प्रत्यंचा। समर=कामदेव। सुरक=भाल पर का तिलक। भाल=फल। (४२) आघु=मोल। बँगाई=टेढ़ापन। (४३) गहकि=उमंग से भर कर। गाँस=आँट। खिसौंहैं=लज्जित, संकुचित। (४४) उचपद= उच्चपद। (४५) पगार=छोटा गड्ठा। (४६) गदकारी=मांसल। गाड़=गड्ठा। सुनकिरवा=स्वर्णकीट, एक कीड़ा विशेष। आड़=बिंदी। (४७) छला=मुँदरी, छल्ला। (४८) घेरा=घेरघार। सूर=वीर। (४९) घाम=धूप। (५०) चमक=चौंक। तमक=उत्तेजना। सिसक= सिसकी। मसक=मर्दन। (५१) झीन=महीन, पतला। (५२) निगम=वेद। मीना=डाकू। मवास=दृढ़ विश्वास। (५३) जोयसी= ज्योतिषी। जारज=पिता से भिन्न किसी अन्य से उत्पन्न होने की स्थिति। (५४) बिन०=बिना हँसी की बात के। पिय०=समझदार प्रिय ने। (५६) ठठकति=रुकती है। बिज्जु=विद्युत्। (५८) खुस्याल= प्रसन्न। (५९) दीपति=चमक। ताफता=धूपछाँह नाम का रेशमी कपड़ा। (६०) सटपटात=संशय में पड़ गए हैं। (६१) निरे=निराले। केलि०= कदली के वृक्षों को। त न=युवक। (६२) जिहिं=जिसके द्वारा। (६३) वै=नायक या नायिका की आँखें। सुधि=स्मरण। सुधि=चेतना। (६४) अपत=पत्रहीन। (६५) जोन्ह=ज्योत्स्ना। लखाय=लक्षित। सौंधे= सुगंध। डोरनि=सहारे। (६७) राजस=रजोगुण। (६८) ओक=घर। लोक=लोग। कोक=चकवा-चकई। (६९) चिलक=चमक। चौंध=रात्रि में तारों का प्रकाश जो पथिकों को सवेरा होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है। (७०) अनबूड़े=किंचित् डूबे। बूड़े=निमग्न। तिरे=पार हुए। (७१) तर०=नीचे झुलसी। गरी=गली हुई। (७२) कित=कहाँ। कमनैती= धनुर्विद्या। जिह=प्रत्यंचा। बेझो=लक्ष्य। (७४) नंद=द्वन्द्व। मावस= अमावस्या। (७५) गुन=डोर। चंग=गुड्डी। रंग=समान। (७७) चाली=चली गई। चटकाली=चटक (गौरैया) का झुंड।

रति० = प्रेम का पालन किया। (७९) हवाल = दशा। (८०) कँटीली = कंटकित। (८१) संसौ = संशय। हंस = पक्षी; प्राण। मिचान = बाज। (८२) अनाकनी = आनाकानी। गुहारि = पुकार। वारक = एक बार। वारन = हाथी। (८५) मुलकी = मुस्काई। कस = बलपूर्वक। (८८) लाव = रस्सी। झौंर = समूह। (९४) मौर = सिर। (९९) मोष = मोक्ष। (१०१) दान = हाथी का मद। मधु = मकरन्द। (१०२) गोरस = वाणी का रस। गोरस = दूध, दही, मक्खन आदि। (१०८) पानि = हाथ। पच्छी = पक्षी; अपने पक्ष वाला। (११०) बहिनापने = बहिन-भाई के स्नेह में। सबील = उपाय। घोंसुवा = घोंसला। (११९) आँग = अंग, स्तन। (१२०) बटाऊ = पथिक। बादि = व्यर्थ। (१२१) डरी = पड़ी। चाहि = देख। आहि = आह। आहि = है। (१२४) मुह० = मुख देख कर दिया जाने वाला उपहार। (१३०) अनगावति = आगे नहीं जाती। इंदीवर = नीला कमल। (१३१) मुड़हर = साड़ी का मूड़ पर रहने वाला भाग। नै = झुक कर। (१३४) हमाम = स्नानागार। मति = कदाचित्। (१३५) कैवा = कई बार। जिन = मत। लाय = आग। (१३७) नारी = स्त्री, नाड़ी। निदान = आदि कारण। (१३९) बरिया = बारी। करिया = कर्णधार। (१४०) काती = कटार। (१४१) पैंड़ पग-पग पर। ऐंड़ = गर्व। ऐंड़ाति = ऐंठती है। (१४२) सतर = तने, तीखे। (१४३) मथनिया = मटकी रई = मथानी। (१४४) पैज = प्रतिज्ञा। (१४६) त्यौनार = ढंग। नीठि = कठिनाई से। (१५२) लोयन = लोने। (१५४) मिस = बहाना। लंगर = ढीठ। ढिग = पास (१५६) सलोने = सुन्दर। सनेह = प्रेम; तेल। सूरन = ओल, जमींकंद। (१५८) तरौना = कान का गहना। (१५९) लगि = कंपा, लग्गी। लंक = कमर। लोयन लावण्य। लोयन = लोचन। (१६३) गुड़हर = जवा फूल (लाल रंग)। (१६७) मुलकि = मुसकरा के। (१७३) बसत = गए। (१७६) रुचि = शोभा; रंग। विथुरे = फैले। सुथरे = सुन्दर। (१७७) पंच० = (पाँच तोले की) महीन, हलकी साड़ी। जलचादर० = पानी के

प्रपात से बनी चादर के दीपकों की भाँति। (१७८) रति० = रात्रि-जागरण। (१७९) सालति = पीड़ा करती है। नटसाल = काँटे का वह अंश जो घँस कर टूट गया हो। खुमी = कान का गहना। खुभी = घँसी। (१८१) मूका = छेद। (१८५) अनखाय रही = बुरा मान रही थी। लाय = आग। (१८८) सुरति = स्मृति। (१९०) नींदौ = निद्रा भी। नींदन० = निंदा के योग्य। (१९२) तरनिजा = सूर्य की पुत्री, यमुना। तरौंस = तट के पास। खरौंहौं = खारा। (१९३) हथलेवा = पाणिग्रहण। (१९५) चकित = स्तम्भित = । तिलौंछे = तेल से पोंछे। (१९८) रस = मकरध्वज आदि रस; प्रेम। (१९९) रोज = विषाद। (२००) हई = भय।

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 97826
Date 13/7/2001